ग्रन्थमाला अंक २.

रसातलयात्रा

[पृथ्वी]ी के भीतर अति अद्भुत और अचरज पैदा करने
वाले दृश्यों की वैज्ञानिक विनोदपूर्ण कथा

फ़रासीसी लेखक जूल वर्न की पुस्तक का
परिवर्त्तित अनुवाद

लेखक

गिरिजाकुमार घोष

प्रकाशक

माडर्न प्रेस, मुट्ठीगञ्ज, प्रयाग

१९१२

[मूल्य पांच आना

सूची

रसातलयात्रा

——:※:——

पहिला परिचय

मास्टर साहब पेन्शन लेकर घर ही रहा करते थे। कुछ हुए उनकी स्त्री का देहान्त हो गया था। अब घर में की कन्या नर्मदा और एक वृद्धा स्त्री सावित्री—जो रसोई नी किया करती थी—रहती थीं। मैं भी अपने पिता के स्वर्ग-वास के पीछे मास्टर साहब ही के पास कई वर्षों से रहा करता था। पिता की ज़मींदारी का काम गुमाश्तों के हाथ में था। मास्टर साहब पिता से भी बढ़ कर मेरा आदर करते और बड़े प्रेम से मुझे पढ़ाया करते थे। मास्टर साहब को प्राचीन समयों की हस्तलिखित पोथियों के पढ़ने से बड़ा प्रेम था। ऐसी पोथियों का बहुत बड़ा संग्रह उनके पास हो गया था। वे साँझ सवेरे दोनों बेर कोस दो कोस तक घूमने फिरने निकल जाते और स्नान भोजन आदि के उपरान्त अपना सारा समय पढ़ने लिखने ही में बिताया करते थे। परन्तु कुछ दिनों से उनको न जाने क्या हो गया था कि उनकी दिनचर्या में बहुत अन्तर देख पड़ा। अब कई अठवारों से वे घर से निकलते ही न थे। उनका खाना पीना तक एक तरह से छुट गया था। जब देखो तब एक पुरानी पोथी के एक एक अक्षर मिला मिला कर न जाने क्या लिखा करते थे, फिर उन्हें मिटा देते थे, फिर लिखते थे। कभी गुस्से में आकर लिखा हुआ

कागज़ फाड़ डालते थे। दो दिन से उनकी दशा और भी विचित्र हो गयी थी। रात रात भर मैंने उनको कागज़ कलम और उस पोथी को लिये हुए बैठ रहते देखा। कोई उनके पास जाता तो उनको उसका अपने पास आने तक का ज्ञान न रहता। आँखें फाड़ फाड़ कर इधर उधर देखते, फिर पोथी पर झुक पड़ते। एक तो उनकी वृद्ध अवस्था थी। तिस पर दो दिन से उनके मुख में चिल्लू भर पानी तक नहीं गया था कई दिनों से उनकी आँखों ने पलक तक नहीं मारा था उनका मुख सूख कर गालों पर की हड्डियाँ निकल आयी थीं आँखें भीतर को घुस गयी थीं।

उनकी ऐसी दशा देख कर हम लोग सब घबरा उठे। सावित्री डर से पास नहीं जाती थी। दूर ही से उनकी कोठरी में झाँक कर आप ही आप बिलबिलाया करती। निदान एक दिन मुझसे नहीं रहा गया। मैं कलेजे में ढाढ़स बाँध कर उनकी कोठरी में घुस पड़ा। नर्मदा भी मेरे पीछे दबे पाँवों हो ली। मैं कोठरी में घुसा ही था कि मास्टर साहब कुर्सी पर से उछल कर खड़े हो गये और कुछ आनन्द का सा भाव दिखा कर चिल्ला उठे "मिल गया! मिल गया! ठीक है! ठीक है!" मैं आगे बढ़ कर उनके पास खड़ा हो गया। मुझे देख कर उनका मुख फिर कुछ फीका सा पड़ गया। वे मानो कुछ भूल से गये। फिर कुर्सी में बैठ कर एक कागज़ पर का लिखा हुआ बड़े ध्यान से जाँचने लगे। मेरे पास रहने का ज्ञान उनको न रहा। परन्तु दो ही तीन मिनट पीछे फिर उछल कर खड़े हो गये और चिल्लाने लगे, "ठीक है! ठीक है! तारापुर! तारापुर! मणिपुर!"

अब मुझसे न रहा गया। मैंने उनका हाथ पकड़ कर पूँछा, " यह आप क्या कर रहे हैं ? " मेरा पूँछना भर था कि मास्टर साहब ने मुझे बड़े ज़ोर से अपने गले से लगा कर कहा, "रञ्जन ! मिल गया। तारापुर ! मणिपुर !"

उनकी ऐसी उन्मत्त दशा देख कर मेरा कलेजा काँप रहा था। नर्मदा मेरे पीछे कठपुतली की तरह अपने पिता की ओर निहार रही थी। निदान मैंने अपने को मास्टर साहब के बाहु-बन्धन से धीरे धीरे छुड़ा कर उनको पकड़ कर फिर कुर्सी पर बिठाया, और उनके पीछे की खिड़की खोल दी। नर्मदा को मैंने इङ्गित से कुछ खाने के लिए लाने को कहा। वह दौड़ कर गयी और झट कटोरे में थोड़ा सा शरबत बना कर ले आयी। मैंने उस कटोरे को मास्टर साहब की ओठों से लगा दिया। मास्टर साहब कई दिनों से प्यासे थे। उन्होंने, बिना कुछ कहे, चुपचाप शरबत पी लिया। शरबत के पीने से और सबेरे की ठंढी ठंढी बयार लगने से उनकी तबियत कुछ सम्हलने लगी। वे रह रह कर दिवाल पर, फिर काग़ज़ पर देखने लगे, फिर आपही आप कहने लगे, "म-णि-पु-र ! ता-रा-पु-र ! "

तब मैंने साहस कर के उनसे पूछा, तारापुर कहाँ है ? वहाँ क्या होगा ?

मास्टर साहब बड़ी फुर्ती से बोल उठे " यह देखो, यह तारापुर है ! हाँ, हाँ, यह तारापुर ही तो हुआ। और यह देखो, यह मणिपुर ही निकलता है !" यों कह कर वे अपने लिखे हुए कुछ अक्षरों को एक बहुत पुरानी ताड़ के पत्तों पर लिखी हुई पोथी के अक्षरों से मिला मिला कर दिखाने लगे। पोथी

का एक अक्षर भी मेरी समझ में न आया। मैंने वैसे टेढ़े मेढ़े कचुओं के से अक्षर कभी नहीं देखे थे। मैंने पूछा, यह किस भाषा के अक्षर हैं? मास्टर साहब गालों के भीतर धँसी हुई अपनी आँखों को बाहर निकाल कर डपट कर बोले "पैशाची, यह पैशाची की एक शाखा है। इसे राक्षसी भी कहते हैं। राक्षसी के सात विभाग हैं—उत्तर कौरवी, दक्षिण कौरवा, अहिरावणी, महिरावणी, हैहेयी, हैहावी और तारक्षवी। यह अक्षर हैहेयी के अन्तर्गत हैं। इनकी खोज में मुझे बड़ी देर लग गयी। ओः! मेरा माथा कैसा धमक रहा है! तनिक सा गुलाबजल तो मेरे रूमाल में डाल दो। पर है यह तारापुर ही!"

मैंने कहा, "तारापुर?"

मास्टर साहब "हां, हां, तारापुर नहीं तो और क्या?" यों कह कर मेरी ओर इस भांति घूरने लगे जैसे वे मुझे दाँतों से चबा ही लेना चाहते थे।

मैंने कहा, "हां, हां, तारापुर ही तो है", और आले पर से बोतल उठाकर गुलाब से रुमाल को अच्छी तरह भिगा दिया, और उसे मास्टर साहब के गंजे सिर पर धर दिया। नर्मदा पीछे से आकर पंखा डुलाने लगी।

वे जब फिर कुछ स्वस्थ हुए, तब मैंने धीरे से पूछा, "अब चलिए, उठकर स्नान भोजन करिये। यह तो तारापुर हो ही गया।"

अब मास्टर साहब की ओठों की कोनों में से कुछ हास्य की छटा सी झलकने लगी। वे बोले, "तारापुर होने में कोई सन्देह नहीं है। और वह मणिपुर के उत्तर-पूर्व की

ओर है। मैंने कहा, "इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। पर चलिए, स्नान को बहुत देर हो रही है। खा पीकर हम दोनों फिर आ बैठेंगे। अभी तो बहुत काम बाकी है।"

मास्टर साहब ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा, "हां, अभी हुआ ही क्या है? काम तो अब करना पड़ेगा।"

मैंने और कुछ न कह कर उनका हाथ पकड़ उनको खड़ा किया। उनमें चलने की शक्ति नहीं रह गयी थी। वे डगमगाने लगे। दूसरी ओर से नर्मदा ने उनका दूसरा हाथ थाम लिया। मास्टर साहब हम दोनों के कन्धों पर अपने हाथ टेक कर कोठी से बाहर आये।

मणिपुर

स्नान भोजन के उपरान्त नर्मदा। और हम मास्टर साहब को बहला कर उनके सोने की कोटरी में लिवा गये और धीरे धीरे उनको पलँग पर लिटा दिया। नर्मदा उनके सिर पर पङ्खा डुलाने लगी। कई दिन के थके माँदे बूढ़े मास्टर साहब को झट निद्रा आ गयी। तीन चार घंटे तक वे खूब सोये। आँख खुलने पर उनके मुख पर फिर पुराना स्वाभाविक भाव झलकने लगा। हम लोगों को जी खोल कर उनसे बोलने का साहस हुआ।

पर मणिपुर की धुन उनसे नहीं छुटी। वे बड़े प्यार से मुझे पास बुला कर कहने लगे, "रञ्जन! इतने दिनों में मेरी मनोकामना पूरी होती देख पड़ती है। पर मुझसे अकेले यह काम नहीं होगा। कई यन्त्र ऐसे हैं जिनके व्यवहार में तुमको भी मेरा साथ देना पड़ेगा। उनकी बातें मैं तुमको धीरे धीरे समझा दूँगा।"

मैंने कहा, "मैं आपकी आज्ञा कब टालता हूँ? मुझसे जो कुछ हो सकेगा, मैं करने को तैयार हूँ। पर करना क्या होगा?"

मास्टर साहब ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "चलो, हम तुम रसातल की यात्रा कर आवें।"

अब तो मेरे सिर में चक्कर आने लगी। मैंने समझा, इन का दिमाग़ बिगड़ गया है। इनके सिर में पैशाची मन्त्र ने पिशाचों का सा हुल्लड़ मचा रक्खा है। इनकी बुद्धि सठिया

गयी है। वृद्धावस्था में इन्हें बहुत दुःख भोगना पड़ेगा। भगवान कुशल करें।

मुझको सोच में डूबने देख वे बोले, "सुना तुमने? हम दोनों रसातल को चलेंगे। पर यन्त्रादिक और खाने पीने की सामग्रियाँ ले जाने के लिए एक मज़दूर भी चाहिए। हंसा को भी तैयार होने कह दो। अब देर करना ठीक नहीं है। शुभस्य शीघ्रम्।"

उनकी बातें मेरी समझ में न आयीं। पर वे काहे को मानने लगे थे? रसातल-यात्रा की सच मुच तैयारी करने लगे। मैंने समझाने की चेष्टा की। पर उन्होंने झिड़क कर मेरा मुँह बन्द कर दिया। मैं भी ईश्वर के हाथों में सब बातें समर्पण करके चुप हो रहा। मास्टर साहब की आज्ञा सब बातों में पालने लगा।

यात्रा की तैयारियाँ देख कर मेरे मन में भी उत्साह भर गया। न जाने कितने दिनों तक पातालपुरी में रहना होगा, इस बात को सोच कर मैंने पूछा, "वहाँ भोजन आदि का प्रबन्ध कैसे होगा? वहाँ बनियों की दूकानें हैं?" मेरा प्रश्न सुन कर वृद्ध वैज्ञानिक का नीरस मुखमण्डल हास्य की छटा से भर गया। मास्टर साहब ने कहा, "कौन जाने वहाँ खाने पीने की सामग्री मिलेगी या नहीं। परन्तु वैज्ञानिक यात्राएँ वैज्ञानिक रीति ही से होनी चाहिएँ। इसलिए यह देखो, मैंने खाने की सामग्री भी सब जमा कर ली है।" यों कह कर आपने मुझे एक छोटे से बक्स में कुछ शीशियाँ और एक थैले में कोई पाँच सेर अन्दाज़ के हिन्दू बिस्कुट दिखाये और कहा, "इन सामग्रियों से हम तीनों आदमी दो ढाई वर्ष तक

अच्छी तरह बिता सकते हैं। आगे की बात ईश्वरेच्छा पर छोड़नी पड़ेगी। यह बिस्कुट हैं तो छोटे छोटे, पर एक एक बिस्कुट में सेर भर अन्न खानेवाले मनुष्य का पेट भर जायगा।" यों कह कर आपने एक पात्र में पानी लेकर बिजली के लम्प पर गरम किया और उसमें आधा बिस्कुट छोड़ दिया। थोड़ी देर में वह आधा बिस्कुट पानी में घुल कर हलुए की भाँति हो गया जिससे पात्र भर गया। मास्टर साहब ने कहा, " थोड़ा सा खाओ तो। " मैंने आश्चर्य में आ कर डरते डरते थोड़ा सा हलुआ उठा कर मुख में रक्खा। स्वाद बुरा न पाया। तब मास्टर साहब ने एक शीशी निकाली और उसमें से एक बूँद भर औषधि उस हलुए में छोड़ दी और बोले,"इसे जितनी रुचि हो खा लो।" मैंने उस हलुए में से लगभग पाव भर के खा लिया। परन्तु जब सावित्री भोजन के लिए बुलाने आयी, मुझे भूख न रही। दिन भर बे खाये पीये बीत गया। रात्रि को भी भूख अच्छी तरह न लगी। परन्तु सावित्री को बड़बड़ाते देख मैंने ज्यों त्यों करके थोड़ा सा भोजन किया।

मैंने मास्टर साहब से कहा, " आपने रसायन-विद्या या विज्ञान-शास्त्र का आधुनिक रीति से अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। इस आधे बिस्कुट ही को खा कर मैंने आपकी विद्या का परिचय पा लिया।" मास्टर साहब बोले, "इसका कारण भी तुमने समझा? हम लोग जितनी चीज़ें नित्य खाते हैं उनमें जल का भाग बहुत रहता है। वैज्ञानिक क्रिया से बिस्कुट के अन्न का सब जल मैंने खींच लिया है। जब फिर से जल मिलाया गया, भोजन ने अपनी असली दशा को पा लिया।

इसी भाँति मैंने चाय, चीनी, दूध, सब वस्तुओं का सत्त निकाल लिया है। उनमें गरम पानी मिला लेने भर की कसर रहती है। और शीशी में शक्ति बढ़ाने की दवा है। एक एक बूँद से एक छटाक घी का काम निकलता है। इसी भाँति दूसरी शीशियों में और भी भाँति भाँति की ज़रूरी चीज़ें हैं। उन सबकी बात आगे किसी दिन कहूँगा। इन सबके बनाने बनवाने में हज़ारों रुपये मैंने लगा दिये हैं।"

निदान, नियत दिन पर, मास्टर साहब, मैं और हंसा घर से यात्रा को निकले। रेल में बैठ कर हम लोग मणिपुर की ओर चले। वहाँ से पैदल, पैशाची निर्देशों की सहायता से, मास्टर साहब की बतलायी हुई राह पर, हम लोग पूर्व और उत्तर की ओर चले। हम लोग रात को जहाँ ठहरते, मास्टर साहब यन्त्रों से दिशा आदि नापा करते और अपनी जेबी किताब में पेन्सिल से नाप के अङ्क लिख लिया करते। कई दिनों पीछे हम लोगों को पहाड़ में एक गुफा सी मिली। मास्टर साहब ने कहा, "यह गुफा नहीं है। देखो इसका मुख कुए की तरह है। यहाँ पर हैइयों के समय में एक आग्नेय शिखर था। यह कुआ आग्नेय शिखर का मुख था। मेरी पुस्तक में इसीका ठौर ठिकाना लिखा हुआ है। देखो, मेरा हिसाब कैसा ठीक बैठ गया! मेरे यन्त्र कैसे सच्चे निकले! लाखों वर्ष की बात आज के विज्ञान ने हमको बता दी। यही रसातल का द्वार है। हिन्दू शास्त्रों में भी इसका वर्णन मिलता है। राक्षस लोग इसी द्वार से पृथ्वी पर आया करते थे। इसीमें हो कर हम भी पृथिवी के पेट का हाल ले आवेंगे। अपना कैमेरा सावधानी से रखना। एशियाटिक सोसाइटी

के जरनल में हम लोग रसातल के चित्र भी छपवा देंगे।"

इसी तरह की बात चीत में रात हो आयी। हम लोग खा पी कर, अलाव में ढेर सी लकड़ी डाल कर, पेड़ के नीचे सो रहे। सवेरा होते ही जाड़े से काँपते हुए हम लोग उठ बैठे। पूर्व दिशा में प्रातःकल के सूर्य की हलकी हलकी किरणें बहुत अच्छी लगने लगीं। मैंने एक बार आँख उठा कर पृथ्वी माता की शोभा देख ली। जी में होने लगा, इस पागल बुड्ढे के साथ अँधेरे कुए में कूदना है। न जाने फिर कभी पृथ्वी पर लौटना भाग्य में लिखा है या नहीं।

मास्टर साहब ने कहा, "आओ, अब देर मत करो। इसी समय साइत बहुत अच्छी है। चलो गड्ढे के भीतर चलें।"

देखने से मालूम हुआ, उस गड्ढे का मुख एक उलटे हुए कोण की तरह था। मुख का व्यास आध कोस का होगा। उसकी गहराई २००० फुट से कम न होगी। जिस समय ज्वालामुखी जगती होगी उस समय इसी कोणरूपी थाले में टिघला हुआ धातु और पत्थर भरा रहता होगा, और आग के गोले लुढ़क लुढ़क कर उसमें वज्रनाद करते होंगे। इस गड्ढे का तला गोलाई में ढाई सौ फुट रहा होगा। इस लिए ऊपर से नीचे के ढालू में उतरने में बहुत कठिनाई का भय नहीं था! परन्तु मैं एकाएक यह बात सोचने लगा कि यह गड्ढा तो मानो बारूद और गोले से भरे हुए तोप का मुख है। कहीं हमारे इसके भीतर उतरते ही बारूद में आग लग जावे तो कैसा होगा? सोच कर मेरा कलेजा दहलने लगा।

परन्तु हंसा को जब मैंने विना कुछ कहे सुने बड़ी गम्भीरता से आगे उतरते देखा तो मुझे अपनी कायरता पर कुछ

लज्जा सी आने लगी। मैं भी साहस के साथ नीचे उतरने लगा। हमारे मार्ग में पत्थर के गोले ढेरों पड़े थे। कभी कभी हम लोगों के पैरों से लग कर वे नीचे को लुढ़कने लगे और गड्ढे के भीतर किसी अतल स्थान में उनके गिरने का बहुत गहरा शब्द होने लगा। वह शब्द गूंज कर इतने नाद से ऊपर को उठने लगा कि सुन सुन कर फिर मेरे अन्तःकरण में भय का सञ्चार होने लगा।

उतरने में कहीं कहीं हमारे सामने कुछ दूर तक भूमि ऐसी मिलने लगी जैसे कीचड़ सूख गयी हो। कहीं कहीं पर सचमुच श्वेत रङ्ग की राख ही पड़ी थी। इन ठौरों पर हमको बड़ी साव-धानी से आगे बढ़ना पड़ा। हंसा एक लोहे की छड़ी से अपने सामने की भूमि को जांच लेता कि कहीं उसके नीचे गड्ढा तो नहीं है; तब हम लोग भी उसके पीछे पीछे चलते। कहीं कहीं पर भूमि इतनी भुसभुसी सी थी कि हम लोगों ने अपनी कमरों में एक रस्सी बाँध ली, कि यदि तीनों में से किसी एक के पैर फिसल जाते तो वह और दोनों से बिछुड़ कर अतल में न चला जाता। पर इतनी सावधानी करने पर भी भय के अनेक कारण देख पड़ने लगे।

दोपहर होते होते हम उस गड्ढे के पेंदे में पहुँच गये। मैंने अपना सिर उठा कर ऊपर को देखा तो आकाश का एक बहुत छोटा सा अंश देख पड़ा, परन्तु वह बिलकुल गोल सा मालूम हुआ। गड्ढे के मुख के किनारे ही पर एक पर्वत की चोटी देख पड़ने लगी, मानो वह ठीक उस किनारे ही पर खड़ी हो। परन्तु ऊपर हम देख आये थे, वह पर्वत आग्नेय शिखर से बहुत दूर था।

अब हमारे सामने, उस गड्ढे के पेटे में तीन नालियों के से गड्ढे देख पड़े। हर एक नाली का व्यास कोई सौ सौ फुट का था। नालियाँ मुंह फाड़ फाड़ कर हमारी ओर देखने लगीं। मुझे तो उनके भीतर देखने से डर लगने लगा। परन्तु मास्टर साहब ने झटपट तीनों को देखा। वे हाँफते हुए एक से दूसरे के पास दौड़ने लगे, और अद्भुत रीति से सिर और हाथ हिला हिला कर बड़बड़ाने लगे। हंसा और मैं धातु और पत्थर के मेल से बने हुए एक चट्टान पर बैठ कर बड़े अच-रज से उनकी क्रिया देखने लगे।

अचानक मास्टर साहब चिल्ला उठे। मैंने समझा उनके पाँव किसी छिपे हुए गड्ढे में फँस गये हैं और वे गिर पड़े होंगे। पर नहीं, वे हाथ पाँव फैला कर एक चट्टान के सामने बैठ गये और आँखें फाड़ कर बड़ी एकाग्रता से देखने लगे। उनकी बोली बन्द हो गयी। वह बड़े आश्चर्य में, अपार आनन्द में डूब कर फिर पागलों की तरह बड़बड़ाने लगे। उन्होंने चिल्ला कर कहा, "रञ्जन, रञ्जन, आओ, देखो!"

मैं दौड़ कर उनके पास गया। परन्तु हंसा अपनी जगह से नहीं टला।

मास्टर साहब ने कहा, "देखो तो सही!" मुझे भी उनका सा आश्चर्य होने लगा, परन्तु उनके आनन्द का सुख मुझे नहीं मिला। मैंने चट्टान पर उसी पैशाची-हैहेयी भाषा में खुदे हुए कुछ अक्षर देखे। वे युग-युगान्तर पहले खोदे गये होंगे, क्योंकि समय के प्रभाव से बहुत से अक्षर घिस गये थे, परन्तु उसी पैशाची भाषा में "तारापुर" यह मैंने

भी स्पष्ट पढ़ लिया। इस नाम का पढ़ना मास्टर साहब ने मुझे पहले ही सिखा दिया था।

मैं कुछ बोल न सका। चुपचाप जा कर हंसा के पास बैठ गया। बड़े आश्चर्य से मेरी सुधबुध जाती सी रही। मैं मास्टर साहब को पागल समझता था। पर अब और किस बात का सन्देह था? न जाने कितनी देर तक मैं वहीं बैठा रहा। जब मुझे फिर कुछ चेतना सी हुई, मैंने देखा, हंसा एक चट्टान के नीचे पड़ा सो रहा है; मास्टर साहब उस गड्ढे में इस भाँति घूम रहे हैं जैसे कोई जङ्गली जानवर पिंजड़े के भीतर टहल रहा हो। मुझे अपनी ठौर से उठने की इच्छा न हुई, न मुझ में उठने की शक्ति ही थी, और मैं भी हंसा की देखा देखी उसके बगल में पड़ कर सो रहा। नींद में मुझे जान पड़ा, मानो मेरे कान के नीचे, पृथ्वी के भीतर, कुछ गड़गड़ा रहा है।

ज्वालामुखी के मुख में इस भाँति हमारी पहली रात बीत गयी।

दूसरे दिन सवेरा होने पर भूरे रङ्ग का, भारी बादलों से लदा हुआ, आकाश का एक अंश उस कोण के मुख पर उमड़ा हुआ सा देख पड़ा। थोड़ी देर में फिर अँधेरा छा गया। फिर कुछ उजियाला हो आया। फिर बादल घिर आये। दिन भर सूर्य के दर्शन न मिले।

मैं उस समय मास्टर साहब के क्रोध और उदासी की कथा कैसे वर्णन करूँ? उनका मुखमण्डल भी घने बादलों से घिरा हुआ सा मालूम होने लगा। वे कहने लगे, सूर्य्य के बिना

निकले वे अपने यन्त्र से काम नहीं ले सकते थे, और उसके बिना तारापुर की नाली में घुसना भी सम्भव न था। दिन भर इसी भाँति बीत गया। एक आध बेर कुछ पानी भी बरस गया। हंस्रा ने टिघले हुए धातु और पत्थरों की चौड़ी चौड़ी पगड़ियाँ चुन कर एक चट्टान के नीचे कुछ छाया सी बना ली। यह काम उसने बड़ी बुद्धिमानी का किया, क्योंकि रात के साथ साथ ज़ोर से पानी बरसने लगा। हम तीनों हंस्रा की छाया के नीचे बैठे रहे। पानी के साथ साथ बर्फ़ भी गिरने लगा। सारी रात हम लोगों ने बड़े दुःख से काटी।

फिर सवेरा हुआ। परन्तु बादल न हटे। मास्टर साहब बाघ की नाईं गुर्राने लगे। उनकी दुर्दशा का कुछ ठिकाना न रहा। पर बेबसी थी, वे कर ही क्या सकते थे?

तीसरे दिन भी सूर्य न निकला। परन्तु चौथे दिन ऋतु बदल गयी, बादल हट गये, ज्वालामुखी के गड्ढे में सूर्य की किरणें भर गयीं। हर एक पहाड़, हर एक चट्टान की छाया देख पड़ने लगी। साथ ही साथ ऊपरवाले पर्वत के शिखर की छाया धूप के साथ साथ एक लकीर की भाँति नाली के मुख पर चक्कर काट कर घूमने लगी। मास्टर साहब अपना यन्त्र हाथ में लेकर उस छाया की लकीर के पीछे पीछे घूमने लगे।

दोपहर को वह लकीर नाली के ठीक बीचोबीच में आ-गयी। मास्टर साहब बोल उठे, "बस, बस, ठीक है। रञ्जन, चलो। अब देर मत करो।" हम लोग सब तैयार हो गये।

नारापुर की नाली

अब असली यात्रा आरम्भ हुई। अब हमने सब बाधाओं को काट लिया था। पर अब आगे पल पल में बाधाओं से भेंट होना था।

मैं जिस नाली में कूदने को था, अब तक मैंने उसमें झाँकने का साहस नहीं किया था। अब वह समय आ पहुँचा। एक बार जी में आया कि कौन अपनी जान जोखों में डाले। परन्तु फिर आपही आप मुझे लज्जा आने लगी। निरञ्जर हंसा का साहस देख कर मेरा भी साहस लौट आया। उसको भय का नाम तक नहीं था। वह चुपचाप ऐसी गम्भीरता से उतरने को तैयार हो गया कि मुझे अपने मन ही मन अपनी कायरता पर लज्जा आने लगी। मैं भी नाली के मुख पर आ खड़ा हुआ।

मैं पहले कह चुका हूँ कि नाली के मुख का व्यास १०० फुट था। मैं एक चट्टान पर से झुक कर नीचे देखने लगा। पर देखते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये। नाली की गहराई देख कर मेरे सिर में चक्कर आने लगा। पर मैं फिर आप ही आप सम्हल गया। मुझे मालूम हुआ कि नाली की दीवार सीधी थी। उसमें बीच बीच में पत्थर निकले हुए थे, जो पाँव रख कर नीचे उतरने के लिए अच्छे थे। ऊपर किसी चट्टान में रस्सी बाँध कर उसके सहारे से हम उतर सकते थे। पर रस्सी को पीछे से खोलना कौन?

मास्टर साहब ने इस बाधा के दूर करने का एक बहुत अच्छा उपाय निकाला। एक मजबूत अँगुली के बराबर मोटी

४०० गज़ की डोरी को उन्होंने दोहरा ली, और उसके दोनों सिरे नीचे लटका कर, उसके बीच का भाग एक खड़े चट्टान में लपेट दिया। हम लोगों को एक एक बार में दो दो सौ फुट की दोहरी रस्सी पकड़ कर उतरना था। तीनों आदमी २०० फुट नीचे जाकर रस्सी का एक सिरा छोड़ दूसरे सिरे को चट्टान पर से खींच लेंगे। इससे वह रस्सी खुल कर हमारे हाथ में आ जायगी। और इसी भाँति, जब तक प्रयोजन होगा हम नीचे को उतरते रहेंगे।

मास्टर साहब ने अपनी युक्ति समझा कर कहा, "अब अपना असबाब सम्हालो। उनके तीन भाग कर डालो। एक एक भाग हम लोग अपनी अपनी पीठ से बाँध लें। भोजन की सामग्री बराबर बराबर बाँट लो। हंसा फावड़ा, कुल्हाड़ी आदि भारी यन्त्र ले लो। रञ्जन, तुम हथियारों को लो। मैं सूक्ष्म यन्त्रों को अपने पास रक्खूंगा।

मैंने पूछा, "और कपड़े, सीढ़ी, रस्सियाँ और दूसरी भारी चीज़ ? इनका क्या होगा ?"

"वे अपने आप ही उतर जावेंगी !"

मैंने पूछा, "कैसे ?"

"अभी देख न लेना।"

मुझे मास्टर साहब की बुद्धि पर निर्भर करना पड़ा। उनकी आज्ञा मान कर हंसा ने भारी वस्तुओं का एक गट्ठर बाँधकर उनको नाली के भीतर डाल दिया। वह ठोकरें खाता हुआ नीचे उतरने लगा। मास्टर साहब झुक कर गट्ठर का

उतरना बड़े आनन्द से देखने लगे और जब वह दृष्टि से बाहर हट गया, वे खड़े हो गये। बोले, अब आओ, हमारी बारी है।

बताओ तो, पागल को छोड़ और भी कोई यह बात कह सकता था?

मास्टर साहब ने सूक्ष्म यन्त्रों की गठरी अपनी पीठ से बाँध ली। हंसा और मैंने भी अपनी अपनी चीज़ों को कस कर पीठ से बाँध लिया। फिर हम लोग नीचे उतरने लगे। पहले हंसा उतरा फिर मास्टर साहब, और फिर सबसे पीछे मैं।

जब मेरी बारी आई, मैंने आँखों को मूँद कर, मरने के लिए तैयार होकर, दोनों डोरियों को हाथों से पकड़ लिया, और दिवाल में पाँव टेक टेक कर धीरे धीरे नीचे खसकने लगा। एक बात ने उस समय मुझे बहुत घबरा दिया। मैंने सोचा कि कहीं डोरी से लिपटा हुआ पत्थर हट कर मेरे ऊपर न आ पड़े: डोरी भी तीन आदमियों के बोझ से कहीं टूट न जाय।

हम लोग उतरने लगे। हमारे पैरों के नीचे से कभी कभी पत्थर के टुकड़े हटने लगे। पर हंसा बड़ा बुद्धिमान था। वह सबसे पहिले दिवाल को झाड़ झाड़ कर उतरता था, जिससे ऊपरवालों के पैरों से लग कर नीचेवालों का काम तमाम न हो जावे। जब कहीं पर दीवार कुछ झूठी मालूम होती, या धातु की पपड़ियाँ ढाली मिलतीं, वह पुकारता "देखना! ख़बरदार!"

आधे घंटे में हम लोग एक चौड़े चट्टान पर जा पहुँचे। मैंने देखा, हम लोग एक पत्थर पर खड़े थे जो नाली के

बग़ल में एक ओर से दूसरी ओर तक दिवाल से लगा हुआ था। वहाँ पहुँच कर मैं कुछ सुसताने लगा। हंसा डोरी का एक छोर छोड़ कर खींचने लगा। वह छोर पहले ऊपर को चढ़ गया, फिर थोड़ी देर में नीचे उतर आया। साथ ही रास्त्र और धातु की पपड़ियों की एक बौछाड़ भी हम लोगों के सिर पर आ पड़ी। मेरी आँखें अन्धी हो जाने से बच गयीं।

अपने छज्जे पर से झुक कर मैंने देखा तो अभी तक नाली के तले का कुछ पता नहीं चलता था। पर हम लोगों ने फिर पहले की भाँति उतरना आरम्भ किया। फिर कोई आध ही घंटे में हम और दो सौ फुट नीचे पहुँच गये।

जिस कठिनाई से हम लोग उतर रहे थे, वैसी दशा में शायद ही कोई पागल से भी पागल भू-तल-तत्त्व-वेत्ता मार्ग के पत्थरों की जाति और दशा आदि की जाँच नहीं कर सकता था। मेरे लिए तो प्राथमिक, मध्यत्रयात्मक, नूतन त्रयात्मक, प्राचीन त्रयात्मक, गन्धमादनी, मैनाकी, चक्रवाकी, अथवा बालू। चूना, खड़िया, कोयला और जीवास्थि के न्यूनाधिक भागों से संगिठत, सब ही प्रकार के पत्थर उस समय एक ही से थे। परन्तु जान पड़ा, उस समय, रस्सी थाम कर उतरते हुए भी, मास्टर साहब अपनी आँखों और बुद्धि से काम लेने में नहीं चूकते थे। क्योंकि एक जगह पर ठहर कर उन्होंने मुझसे कहा, "मैं जितना भीतर आता जाता हूँ, मेरा विश्वास उतना ही पक्का होता जाता है। तरक्षु-हैहय के विचार मुझे सत्य मालूम पड़ते हैं। हम लोग इस समय प्राथमिक (Primitive) पत्थरों में हैं। इस जाति के पत्थर पर उन्हीं रासायनिक क्रियाओं के चिन्ह देख पड़ते हैं जो धातु के

परमाणु और जल के संयोग से हुआ करते हैं ! केन्द्रस्थ अग्नि का नियम मैं मानता ही नहीं ! अभी थोड़ी देर में इस बात के और भी सबूत मिलेंगे ।

मास्टर साहब सदा ऐसी ही बातें कहा करते थे । अपने विचारों को वह सबसे बढ़ कर समझा करते थे । मैं चुप-चाप सुन लेता था । उनसे तर्क करने से कुछ लाभ नहीं था । तीन घंटे और हो गये, पर नाली का तला न मिला । पर यह साफ़ मालूम होने लगा कि नाली की चौड़ाई ऊपर से नीचे की ओर धीरे धीरे कम होने लगी । दिवाल मानो आप ही आप सिमट कर पास आने लगे । साथ ही साथ अँधेरा भी बढ़ने लगा ।

तब भी हम लोग उतरते रहे । पर हम लोगों के पैरों से लग लग कर जो पत्थर नीचे गिर रहे थे, उनका शब्द सुन सुन कर मुझे जान पड़ा कि वे अब पहले की तरह बहुत नीचे नहीं गिरते थे ।

आध आध घंटे में हम लोगों को रस्सी चुक जाती थी, और फिर खींच कर किसी पत्थर से बाँधी जाती थी । इस रीति से चौदह बार हमको ठहरना पड़ा । और कुल दस घंटे तक हम लोग उतरते रहे । इन दस घंटों में से सात घंटे हम लोगों को असल में उतरने में लगे। पाव पाव घंटे के हिसाब से लगभग तीन घंटे हम लोगों ने सुस्ताया था । एक बजे हमने उतरना आरम्भ किया था । सो, ग्यारह बजे के लगभग हम ठहर गये होंगे । इस हिसाब से २०० को १४ से गुणा करने से हम लोग नाली के मुख से २८०० फुट नीचे उतरे थे ।

इस ठौर पर हंसा बोल उठा, " बस, ठहर जाओ । "

मेरे पैर मास्टर साहब के सिर के पास पहुँचे थे, कि मैं हंसा की बोली सुन कर रुक गया।

हंसा फिर बोला "हम लोग आ गये!"

मैंने रस्सी छोड़ कर उसके पास जा कर पूछा, "कहाँ?"

हंसा ने कहा, "इस कुए के तले में"।

"क्या और नीचे जाने की राह नहीं है?"

"हाँ है, पर कुआ हो गया। आगे एक गुफा सी बनी हुई है। वह रहने हाथ को नीचे की ओर ढुलक रही है। अब तो भूख लगी है। आज यहीं ठहर जाओ।"

अभी बहुत अँधेरा नहीं हुआ था। हम लोगों ने वहीं बैठ कर खाया पिया। और कुछ देर बैठ कर सोने के लिए लेट गये। पत्थर और जली हुई धातु की पपड़ियों पर जितने आराम से सो सके, हम लोग सोये।

मैं चित्त पड़ा था। मेरे ऊपर, उस भयानक २००० फुट की नाली के मुख पर, चमकता हुआ छोटा सा उजियाला देख पड़ा। यह कोई नक्षत्र होगा जो ठीक नाली के ऊपर चमक रहा था। मास्टर साहब ने हिसाब लगा कर कहा, यह रोहिणी है।

मैं बहुत थक गया था। फिर मुझे किसी बात की सुध न रही। मुझे खूब नींद आ गयी।

भूगर्भ के चमत्कार

सवेरे आठ बजे दिन का उजियाला किरण की भाँति हमारी आँखों में आ कर लगा. इससे नींद टूट जाने पर हम लोग उठ बैठे। उजियाला पा कर ज्वालामुखी की सहस्रों अग्नियों से जली हुई धातुओं की पपड़ियाँ दिवालों पर चमकने लगीं। चारो ओर एक धीमी चाँदनी का सा उजियाला छा गया।

मास्टर साहब ने कहा, "रञ्जन, तुमको क्या मालूम होता है ? कभी घर पर इससे ज़्यादा आराम से सोये थे ? न गाड़ियों की घड़ घड़, न सौदा बेचनेवालों की चिल्लाहट, न औरतों के लड़ने का गुल गुपाड़ा ! कैसी शान्तिमयी जगह है ?"

मैंने कहा, "हाँ, इस कुए में सुनसान तो खूब है, पर इसी शान्ति ही से मेरे मन में कुछ अशान्ति सी हो रही है।"

"चलो, हटो ! अभी से इतना डर गये तो आगे चल के क्या करोगे ? अभी तो पृथ्वी की पेट के भीतर हम लोग एक इञ्च भर भी नहीं घुसे हैं।"

"क्यों ? आपका क्या मतलब है ?"

"बिलकुल सही। बैरोमीटर को देखो।" सचमुच बैरोमीटर का पारा, जो हमारे उतरते समय चढ़ने लगा था, २९ इञ्च पर ठहर गया था।

मास्टर साहब ने फिर कहा, "देखो ! अब हमको अपने वायुमण्डल भर का दबाव रह गया है। अब बैरोमीटर का

मेरे पैर मास्टर साहब के सिर के पास पहुँचे थे, कि मैं हंसा की बोली सुन कर रुक गया।

हंसा फिर बोला "हम लोग आ गये !"

मैंने रस्सी छोड़ कर उसके पास जा कर पूछा, "कहाँ ?"

हंसा ने कहा, "इस कुए के तले में"।

"क्या और नीचे जाने की राह नहीं है ?"

"हाँ है, पर कुआ हो गया। आगे एक गुफा सी बनी हुई है। वह अपने हाथ को नीचे की ओर ढुलक रही है। अब तो भूख लगी है। आज यहीं ठहर जाओ।"

अभी बहुत अँधेरा नहीं हुआ था। हम लोगों ने वहीं बैठ कर खाया पिया। और कुछ देर बैठ कर सोने के लिए लेट गये। पत्थर और जली हुई धातु की पपड़ियों पर जितने आराम से सो सके, हम लोग सोये।

मैं चित्त पड़ा था। मेरे ऊपर, उस भयानक ३००० फुट की नाली के मुख पर, चमकता हुआ छोटा सा उजियाला देख पड़ा। यह कोई नक्षत्र होगा जो ठीक नाली के ऊपर चमक रहा था। मास्टर साहब ने हिसाब लगा कर कहा, यह रोहिणी है।

मैं बहुत थक गया था। फिर मुझे किसी बात की सुध न रही। मुझे खूब नींद आ गयी।

भूगर्भ के चमत्कार

सवेरे आठ बजे दिन का उजियाला किरण की भाँति हमारी आँखों में आ कर लगा. इससे नींद टूट जाने पर हम लोग उठ बैठे। उजियाला पा कर ज्वालामुखी की सहस्त्रों अग्नियों से जली हुई धातुओं की पपड़ियाँ दिवालों पर चमकने लगीं। चारो ओर एक धीमी चाँदनी का सा उजियाला छा गया।

मास्टर साहब ने कहा, " रञ्जन, तुमको क्या मालूम होता है? कभी घर पर इससे ज़्यादा आराम से सोये थे? न गाड़ियों की घड़ घड़, न सौदा वेचनेवालों की चिल्लाहट, न औरतों के लड़ने का गुल गुपाड़ा! कैसी शान्तिमयी जगह है?"

मैंने कहा, "हाँ, इस कुए में सुनसान तो खूब है, पर इसी शान्ति ही से मेरे मन में कुछ अशान्ति सी हो रही है।"

"चलो, हटो! अभी से इतना डर गये तो आगे चल के क्या करोगे? अभी तो पृथ्वी की पेट के भीतर हम लोग एक इञ्च भर भी नहीं घुसे हैं।"

"क्यों? आपका क्या मतलब है?"

"बिलकुल सही। बैरोमीटर को देखो।" सचमुच बैरोमीटर का पारा, जो हमारे उतरते समय चढ़ने लगा था, २९ इञ्च पर ठहर गया था।

मास्टर साहब ने फिर कहा, "देखो! अब हमको अपने वायुमण्डल भर का दबाव रह गया है। अब बैरोमीटर का

काम बे-पारे ही के होने लगे तो आश्चर्य नहीं। एनीराइड यन्त्र (Aneroid) में पारे की ज़रूरत ही नहीं रहती। जब वायुमण्डल का बोझ समुद्र की सतह से बतलाये गये दबाव से ज्याद: हो जावेगा, उस समय यह यन्त्र बेकाम हो जावेगा।"

मैंने पूछा, "पर क्या इस पल पल में बढ़नेवाले दबाव को हम लोग सह सकेंगे?"

"क्यों नहीं! हम लोग धीरे धीरे उतरेंगे, इससे हमारे फेफड़ों को भी साथ ही साथ घने वायु पीने का अभ्यास होता जावेगा। गुब्बारों में बैठ कर आकाश में उड़नेवालों को वायु का अभाव जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि वे बहुत जल्दी जल्दी ऊपर चढ़ जाते हैं। हमको अभाव के बदले सुभाव—बहुत ज़्यादा—बहुत घना वायु मिलेगा। बिल-कुल हवा न होने से तो ज्यादा होना ही मैं अच्छा समझता हूँ। पर अब देर करने से क्या काम? वह गट्ठर कहाँ है जिसे हमने पहले डाल दिया था?"

पिछली रात को हमने उसे ढूँढा था, पर वह उस समय नहीं मिला था। फिर हमने चारों ओर देखा, पर उसका पता न चला। तब हंसा ने फिर सब ओर देख भाल कर कहा, "वह देखो, वह तो ऊपर ही अटका हुआ है?"

और सचमुच वह गट्ठर हमारे ऊपर सौ फुट पर एक पत्थर में अटक कर लटक रहा था। हंसा बिल्ली की तरह वहाँ तक चढ़ गया और गट्ठर फिर हमारे पास आ गिरा।

तब हम लोगों ने खा पीकर फिर चलने की तैयारी की। मास्टर साहब का चेहरा आनन्द से दमकने लगा। वे बोले,

"सज्जन! अब हम लोग सचमुच पृथ्वी के पेट में धँस जावेंगे।"

यों कह कर उन्होंने अपनी पीठ पर से एक यन्त्र उतारा और एक लालटेन में कुछ तारों के साथ उस यन्त्र को जोड़ कर बिजली पैदा कर ली और हमारी राह में एक अच्छा चमकदार उजियाला हो गया। यन्त्र हंसा के हाथ में रहा और लालटेन मास्टर साहब के हाथ में। इस उजियाले से हम लोग बेखटके अँधेरी राह में होकर चलने योग्य हो गये। हम लोगों ने पीठों पर अपनी अपनी गठरियाँ लाद लीं। हंसा बड़े गट्ठर को अपने सामने लुढ़काता हुआ चला। रास्ता ढालू होने के कारण गट्ठर के लुढ़काने में बहुत परिश्रम न हुआ।

चलती बेर मैंने सिर उठा कर नाली के भीतर से एक बार फिर आकाश की ओर देख लिया। वहाँ का आकाश फिर मुझे और कभी नहीं देखना था।

युग-युगान्तर पहले कभी इसी राह से ज्वालामुखी फूटी थी। क्योंकि हमको अपने चारों ओर अब भी उसके चिह्न देख पड़े। वही धातु और पत्थर की जली राख और पपड़ी—अँगरेज़ी में उसे लावा कहते हैं—दिवालों में लगी हुई थी। उन पर बिजली का उजियाला पड़ने से दिवालों पर से सैंकड़ों तरह की ज्योति निकलने लगी।

हमारी राह कोई ४५ डिगरी की ढालू पर थी। पर हम लोग बहुत जल्दी नहीं उतर सके, क्योंकि राह सड़कों की भाँति पिटी हुई और बराबर नहीं थी। ऊबड़ खाबड़ और पथरीली होने से चलने में देर होने लगी। कहीं कहीं सीढ़ियों की तरह पत्थर जमे हुए थे। उन पर से असबाब ढलकाना

आँखों की प्यास नहीं बुझती थी। मैंने कहा, "यह अपूर्व है! ऐसा किसीने कभी काहे को देखा होगा! अहा! हलके लाल रङ्ग से आरम्भ करके चमकदार पीले तक कैसी कैसी आभाएँ अलग अलग और मिल मिल कर नेत्रों के सामने आ आ कर फिर छिप जाती हैं। और यह बिल्लौरी झाड़ तो मानो जलते हुए गेंद ही हैं।"

मास्टर साहब ने प्रसन्न हो कर कहा, "रञ्जन! अभी तुम ने देखा ही क्या है! अभी इनसे भी बढ़ कर मन को मोह-लेने वाली चीज़ें तुम देखोगे। पर अब बातें करने का समय नहीं है। अभी कदम बढ़ाते चलो। 'कुइक मार्च'।"

मास्टर साहब भूल गये। 'कुइक मार्च' का वहाँ कौन सा मौका था? यदि वे कहते कि 'कुइक खिसको' तो शायद ठीक होता। हम भला वहाँ चल थोड़े ही रहे थे। हम तो ढालू पर से नीचे को खिसकते ही जाते थे। कम्पास (दिग्दर्शक यन्त्र) मेरे हाथ में था। मैंने देखा हम लोग ठीक ईशाण कोण की ओर जा रहे थे। ज्वालामुखी की गति न दाहिने हाथ मुड़ी थी, न बाँए।

पर गरमी की मात्रा हमें अधिक नहीं जान पड़ी। तापमापक यन्त्र (थर्मामीटर) मैंने कई बार देखा। देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। दो घंटे में ४ ही डिगरी गरमी बढ़ी थी। इससे हमने समझ लिया कि हम लोग बहुत गहराई में नहीं पहुँचे थे। पर मास्टर साहब मार्ग की गहराई भी नापते जाते थे। ढालू का अन्तर और उतराव वह बीच बीच में अपने पाकट-बुक में लिखते जाते थे।

संध्या के आठ बजे हम लोग एक जगह पर ठहर गये। हंसा ठहरने ही बैठ गया। लालटेन लावा की एक खूंटी पर टांग दिये गये। हम एक ऐसी गुफा में पहुँच गये थे जहाँ खूब हवा थी। हवा के झोंके बीच बीच में आने लगे। इस हवा के वेग का क्या कारण था? मैं उस समय इस प्रश्न का उत्तर न दे सका। थकान और भूख से मेरे होश ठिकाने न थे। सात घंटे तक लगातार ढालू राह पर उतरने से मेरी सारी शक्ति खर्च हो गयी थी, मुझ में दम नहीं था। सो उस दिन के लिए पड़ाव डाल देना मानो मेरे लिए प्राण-दान हो गया। हंसा ने भोजन की सामग्रियाँ एक लावा की पपड़ी पर हमारे सामने धर दीं। मैंने जो कुछ खाया, मुझे अमृत की तरह लगा। पर खा पी चुकने पर मुझे एक बात की याद आ गयी। मैंने देखा, हमारे साथ जो पानी था, अभी से आधा चुक गया था। हम लोग नहाते नहीं थे, बहुत ही कम पानी खर्च करते थे, तिस पर भी पानी कम हो गया था। मास्टर साहब ने सोचा था कि राह में कोई झरना वरना मिल जावेगा। परन्तु अब तक जल का कोई चिह्न तक हमको नहीं मिला।

मास्टर साहब ने कहा, "बताओ तो, कोई झरना यहाँ पर क्यों नहीं है?"

मैंने कहा, "सो मैं क्या जानूं? बड़े हिसाब से खर्च किया जावे तो पानी पाँच दिन से और ज्यादा नहीं चलेगा। तब तक झरना न मिले तो क्या होगा?"

"रज्जन! घबराओ मत। आगे चल कर पानी ही पानी मिलेगा।"

"कब?"

इस लावा-पुर से हमारे निकल जाने पर। भला ऐसी दिवालों में से भी कहीं पानी के सोते दौड़ सकते हैं ?"

"पर कौन जाने कब तक हम को ऐसा ही मार्ग मिलता रहेगा ? मुझे तो जान पड़ता है कि गहराई में हम लोग बहुत नीचे अभी नहीं उतर सके हैं।"

"तुमको यह बात कैसे मालूम हुई ?"

"क्योंकि हम पृथ्वी के नीचे बहुत गहराई तक पहुँचे होते तो हमको गरमी ज्यादा मिलती।"

"हाँ, तुम्हारे मत से न ! पर देखो तो थर्मामीटर क्या कह रहा है।"

मैंने यन्त्र देख कर कहा, "अभी १५ डिगरियाँ भी नहीं हुई हैं (५६ डिगरी फारनहैट)—हमारे चलने के समय से कुल ६ ही डिगरियाँ।"

"तो तुमने इससे क्या समझा ?"

"मैं समझता हूँ कि पृथ्वी के पेट में सौ फुट में १ डिगरी के हिसाब से ताप बढ़नी चाहिए। पर हाँ, कई स्थानिक कारणों से इस बात में अन्तर भी हो सकता है। चट्टानों में ताप पीने की जैसी शक्ति हुआ करती है, गरमी में भी उसी रीति से भेद हुआ करता है। किसी बुझी हुई ज्वालामुखी के पास, बलुहे चट्टानों में हो कर, १२५ फुट में १ डिग्री गरमी बढ़ते देखी गयी है। मैं भी इसी मत पर अपना हिसाब लगाना चाहता हूँ।"

"अच्छा, हिसाब लगाओ।"

मैंने कहा, "यह तो बहुत सहज बात है। १२५ फुट को ९ से गुणा करें तो ११२५ फुट की गहराई होती है।"

मास्टर साहब ने कहा, "बड़े सच्चे हिसाबी निकले ?"

मैंने पूछा "क्यों ?"

"क्यों क्या ? हम लोग समुद्र की सतह से १०,००० फुट नीचे उतर आये हैं।"

"भला ऐसा भी कहीं हो सकता है ?"

"सम्भव न होता तो मैंने गणना ही क्या किया ?"

मास्टर साहब ने जो कुछ कहा सो बिलकुल ठीक था। मैंने उनका हिसाब लगाना सही पाया। टैरल में कीज़वाल की खान वा जर्मनी में वटमवर्ग की खान पृथ्वी में सबसे गहरी समझी जाती हैं। मनुष्य के पैर उनसे नीचे कभी नहीं उतरे थे। पर हम लोग उन खानों से भी ६००० फुट नीचे पहुँच गये थे।

पर तापमापक की गरमी जिसे ८१ डिगरी (१७८ डि० फा.) होनी चाहिए थी, १५ डि० (५६ डि० फा.) मात्र थी। यह बात विचार के योग्य थी।

पानी का अकाल

दूसरे दिन हम लोग फिर चले। पर थोड़ी ही दूर आगे जा कर हमारी राह की दो शाखाएं हो गयीं। बिना कुछ सोचे समझे मास्टर साहब ने दहनी राह ले ली। मैंने पूछा, यही राह ठीक है न? वे बोले, आओ, चले आओ। मास्टर साहब को जब जो बात सूझ जाती थी, उसे बिना किये वे नहीं मानते थे। मेरा पूछना उनको अच्छा न लगा। चुपचाप वे आगे बढ़ने लगे। उनका चुपचाप रहना ही ग़ज़ब का होना था। मैंने उनके क्रोध को भड़काना अच्छा न समझा। उनके पीछे पीछे हो लिया।

पर अब मुझे जान पड़ा, हम लोग नीचे उतरने के बदले ऊपर को चढ़ रहे थे। तब तो मुझसे रहा न गया। मैंने फिर कहा, "क्या हम लोग ऊपर चढ़ रहे हैं?" मास्टर साहब ने गुर्रा कर कहा "नहीं, बस चले आओ।" उनको अपनी भूल मालूम हो गयी थी या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। परन्तु मेरे और हंसा के सामने अपनी भूल मान लेना उनको बुरा लगता था। इससे मैं फिर चुप रहा।

दो पहर तक हमारी गली के चट्टानों का रूप कुछ बदलता सा जान पड़ने लगा। हमारी लालटेन के उजियाले से दिवाल की चमक अब बहुत कम हो गयी थी। लावा की पपड़ियों के बदले निरा ठोस पत्थर देख पड़ा। जांचने से मैंने समझ लिया यह मैनाकी पत्थर हैं। यह पत्थर लाल बालू, स्लेट, सामुद्रिक जीवों की हड्डी और बनस्पति आदियों के मिल कर

जम जाने से बनता है। मैंने मास्टर साहब का ध्यान इस बात पर दिलाया। उन्होंने लालटेन उठा कर देखा तो सही, पर कुछ न बोले।

अब तक लावा की भूमि पर चलते चलते मुझे भूमि का कुछ अन्दाज़ सा हो गया था। अब एक जगह अकस्मात् मेरे पाँव कुछ धूल की सी नरम वस्तु पर पड़ गये। मैंने जाँचा तो मालूम पड़ा कि वह धूल की ढेर किसी कौड़ी, घोंघे और सामुद्रिक वनस्पतिओं के सड़ जाने से बन गयी थी। दिवालों पर भी सामुद्रिक वस्तुओं के चिह्न कहीं कहीं पर देख पड़ते थे।

पर मैंने समझा, मास्टर साहब मुझसे अच्छा समझते हैं। वे भला कभी भूलेंगे ? पर जो भूले तो फिर मरना ही है। इस मार्ग में पानी नहीं मिलेगा। पानी सब चुक गया था। मुझे उसीकी चिन्ता हो रही थी।

रात को एक एक घूंट पानी छोड़ कर और कुछ पीने को न मिला। दूसरे कामों के लिए पानी का नाम तक नहीं था।

दूसरे दिन फिर हम लोग चले। आगे चल कर दिवालों पर हमारी लालटेन की ज्योति बहुत मैली जान पड़ी। गली भी पहले से बहुत सकरी हो गयी थी। मैंने दिवाल से अपना देह सटा दिया। पर जब अपने हाथों को देखा तो वे काले हो गये थे। मैंने कहा, अरे, यह तो कोयले की खान है ! हम लोग फिर भी आगे चले। अब गरमी बहुत मालुम होने लगी। मैंने जान लिया, यहाँ पर गैस भरा हुआ है। जो कहीं हमारी लालटेन विशेष सावधानी से न बनायी गयी होती,

और यदि हमारे हाथ में कोई मशाल होती तो यात्रा और यात्रियों का तुरन्त अन्त हो जाता। गैस जल उठती और कोयले में आग लग कर हम लोगों का भी काम तमाम हो जाता। पर ऐसी दुर्घटना की सम्भावना मास्टर साहब ने घर से चलने के पहिले ही सोच ली थी, और इसी लिए वैसी लालटेन अपने साथ ले ली थी। इसीसे हमारे प्राण उस दिन बच गये।

थकावट और गरमी से मेरा जी घबराने लगा। प्यास के मारे मुझे कुछ अच्छा न लगता था। इतने में हंसा बोला, "बस !"

"बस !" का क्या अर्थ ? हम लोगों ने देखा, आगे को और मार्ग नहीं था। हमारी गली कोयले की एक चट्टान से बन्द हो गयी।

अब क्या हो सकता था। हम लोगों को फिर उलटे पाँव लौटना पड़ा। मास्टर साहब के मौन से हमने उनको लज्जित समझ लिया। पर अब तो मेरे पाँव उठते ही न थे। हम पड़ाव पर लौट आये। दूसरे दिन हम फिर लौट कर आने लगे। पर जहाँ से दो राहें फूटी थीं, वहाँ पहुँच कर मेरा साहस छूट गया। मैं भूमि पर बैठ गया। प्यास से मेरा कंठ सूख गया था। मुझसे बोला न गया। मैं हाथ पाँव फैला कर लेट गया।

इस समय मास्टर साहब को दया आ गयी। उन्होंने अपनी बोतल में एक घूंट भर पानी बचा रक्खा था। उसी को उन्होंने मेरे ओठों से लगा दिया। बे-बोले चाले मैंने पानी

का घूंट पी लिया। उससे क्या हो सकता था ? पर तब भी मानो मेरे आधे प्राण फिर लौट आये।

अब मैं मास्टर साहब से फिर पृथ्वी पर लौट चलने के लिए कहने लगा। वे बोले, "क्या इतना पानी पी कर भी तुम्हारा साहस नहीं लौटा ? बताओ तो लौट ही कर क्या होगा ? के दिन में धरती पर लौटोगे ! तब तक भला क्या पीओगे ? दिल छोटा न करो। आगे चल कर पानी बहुत मिलेगा।"

पर मैंने न माना। मेरा जी किसी तरह आगे पैर उठाने को नहीं चाहता था। निदान मुझे बहुत हठ करते देख कर मास्टर साहब ने कहा, "अच्छा, तुम हंसा के साथ लौट जाओ। मैं अकेला ही इस काम को पूरा करूँगा।"

मास्टर साहब बहुत घबराये से देख पड़े। अभी थोड़ी देर पहले उनकी बोली मेरी दुर्दशा देख कर प्यार से नर्म हो गयी थी। पर अब फिर उनके मन में कठोरता भर आयी। वे फिर हठ के साक्षात् अवतार बन गये। मैं उनका स्वभाव अच्छी तरह जानता था। मैंने समझ लिया कि वे अकेले ही रसातल की राह तै किये बिना पृथ्वी पर कभी नहीं लौटेंगे। निदान, सोच समझ कर, मैंने उनका साथ छोड़ना अच्छा न समझा। मास्टर साहब को अकेले जाते देख कर मैंने भी अपनी गठरी पीठ पर लाद ली और उनके पीछे हो लिया। हंसा चुपचाप हम दोनो की बातें सुन रहा था। वह आज्ञाकारी नौकर का धर्म मान कर सब बातों के लिए तैयार था। वह भी हम लोगों के साथ चलने लगा।

मास्टर साहब लम्बे लम्बे पाँव उठा कर बाएं हाथ की गली में होकर बड़े वेग से चलने लगे। मुझसे भी जहाँ तक बन पड़ा उनके साथ जाने लगा। पर मुझसे चला नहीं जाता था। कई घंटे चलने के पीछे मैं बहुत ही थक गया। और मेरे पाँव नहीं उठे। ज़ोर से एक आह भर कर मैं फिर भूमि पर गिर पड़ा। इस बार मैं अधमरा सा हो गया। हंसा मुझे देख कर मास्टर साहब को बुलाने लगा। वे दौड़ कर मेरे पास लौट आये. और बड़ी करुणा से मेरे पास बैठ कर मुझे देखने लगे। इस बार कठोर बुड्ढे की आँखों से आँसू निकल पड़े। उनकी वह दशा देख कर मैंने जान लिया कि अब मेरा मृत्युकाल पास आ पहुँचा है। इसीसे इनका भी चित्त डाँवाडोल हो रहा है।

हंसगङ्गा

मास्टर साहब भी थोड़ी देर में भूमि पर लेट गए। वे भी थके माँदे थे। उन्होंने भी दो दिन पानी नहीं पिया था। वह घूंट भर पानी उन्होंने मेरे लिए बड़े यत्न से बचा रक्खा था। वे कहते थे कि मुझे इस घूंट भर पानी के पी लेने की लालच कई बार हुई थी, पर मैंने तुम्हारे लिए उसे बड़ी कठिनाई से अपना मन रोक कर बचा रक्खा था। पर हाय, उससे भी तुमको शक्ति नहीं मिली। निदान उनका पड़ना था कि वे भी नींद में अचेत हो गये।

पर मेरी आँख न लगी। मैं पड़ा पड़ा तड़पता रहा। हंसा चुपचाप बैठा हुआ मुझे देख रहा था। अब उससे रहा न गया। मैंने देखा कि वह लालटेन हाथ में ले कर कहीं जा रहा है। मैंने सोचा कि वह हम दोनों को छोड़ कर भाग रहा है। इससे मैंने चिल्ला कर कहा, "हंसा! हंसा! अरे हंसा भाग चला?"

मैं भरसक चिल्लाया। पर मैं इतना कमज़ोर हो गया था कि मेरी बोली मेरी ओठों से बाहर न निकली। मैं चिल्लाने चाहता था.परन्तु मुझे बोलने तक का सामर्थ्य नहीं था। थोड़ी देर में मुझको इतना ज्ञान हो गया कि हंसा भागा नहीं है। वह भागता तो ऊपर धरती की ओर जाता। पर वह ऊपर की ओर नहीं जाता था। वह नीचे पाताल की ओर ही जा रहा था। यदि हमको छोड़ कर उसकी भागने की नीयत होती तो वह नीचे काहे को जाता? उस पर मेरे मन में अविश्वास होने के कारण मुझे आप ही आप लज्जा आने

लगी । मैं पड़ा पड़ा उसकी ओर देखता रहा । उसका विशाल शरीर घने अँधेरे में मिल गया ।

घंटे भर तक मेरा दुर्बल मस्तिष्क हंसा के जाने का कारण ढूँढने लगा, पर कुछ न बना सका । सोचते सोचते मेरा मन और भी घबराने लगा । बहुत देर पीछे नीचे की ओर एक बहुत छोटा दियासलाई की ज्योति का सा उजियाला देख पड़ा । वह उजियाला पल पल में बड़ा होने लगा । हंसा के पाँवों की आहट भी सुन पड़ने लगी । थोड़ी देर में वह लौट आया और मास्टर साहब को पकड़ कर हिलाने लगा । मास्टर साहब उठ बैठे । हंसा बोला " पानी ! "

मास्टर साहब बोले "कहाँ ?"

मैंने भी सुना " पानी " । मैंने भी बड़े आग्रह से पूछा " कहाँ ? " मैंने बड़े प्रेम से हंसा का हाथ पकड़ लिया ।

हंसा ने कहा " कान लगा कर सुनो । आगे कहीं पर बड़े वेग से पानी की धारा दौड़ रही है । पर अभी उसका पता नहीं चलता है । "

पानी का नाम सुन कर मेरे प्राण लौटने लगे थे । परन्तु अभी उसके मिलने में देर देख कर मेरा उत्साह फिर टूटने लगा । तब भी, अपना सब दुःख भूल कर मैं अपनी गठरी उठा कर चलने लगा । मास्टर साहब भी मेरे साथ हो लिये । हम लोग भर सक दौड़ कर आगे को बढ़ने लगे । मुझे धारा के बहने का शब्द साफ़ सुन पड़ने लगा । ज्यों ज्यों हम आगे बढ़े त्यों त्यों वह शब्द और भी ज़ोर से सुनाई पड़ने लगा । वह धारा थोड़ी देर तक हमारी छत के

ऊपर बह कर अब हमारे बगल में दिवाल के उस पार बहती हुई सुन पड़ी। मैं ठहर ठहर कर दिवाल को छूने लगा। पर वह पसीजा हुआ नहीं देख पड़ा।

आधा घंटा हो गया। हम लोग कोस भर आगे निकल आये। परन्तु शब्द को छोड़ जल का दूसरा कोई चिह्न नहीं देख पड़ा।

एक जगह दिवाल में कान लगा कर हंसा सुनने लगा। उसने झट अपनी गठरी उतार कर रख दी और एक कुदाली ले कर दिवाल खोदने लगा।

उसका यह काम देख कर मेरी आशा, जो फिर मुर्झाने लगी थी, लौट आयी। मैं भी वहीं बैठ गया। मास्टर साहब हंसा की बुद्धि को सराहने लगे। उन्होंने शब्द का हिसाब लगा कर कहा, " हंसा, दोफुट खोदोगे तब पानी निकल आवेगा।"

हंसा भरसक बल करके खोदने लगा। पत्थर कुछ बलुहा था। पर तब भी पत्थर की दो फुट चौड़ी दिवाल का खोदना कुछ सहज बात नहीं है। अब नये नये विचार मेरे सिर के भीतर दौड़ने लगे। मैंने सोचा, जिस ज़ोर का शब्द सुन पड़ता है, यह धारा बड़े वेग की होगी। कहीं दिवाल में छेद हो जाने पर वह धक्का देकर फूट न पड़े और हम सबको बहा न ले जाय। फिर मैंने सोचा, प्यासे मरने से पानी में डूब कर मरना अच्छा है। मैं टकटकी बाँध कर हंसा का काम देखने लगा।

हम तीनों में किसी की बुद्धि ठिकाने थी तो हंसा ही की थी। उसने अपने काम में उतावली नहीं की। न उसने बहुत

बड़ा सा छेद ही किया। छेद का मुंह छ इञ्च से उसने बड़ा नहीं किया। भीतर की ओर और भी कम रक्खा। धीरे धीरे बड़ी सावधानी से पत्थर खोदने लगा।

जब ठीक दो फुट खुद गया, पिचकारी की भाँति बड़े भारी वेग से जल की एक धारा निकल कर गली की दूसरी ओर की दिवाल में टकराने लगी। वह धारा इतने वेग से निकली कि उसके धक्के से हंसा चौपट गिर पड़ा। गिरते ही साथ वह चिल्ला उठा! मुझे भी उसके चिल्लाने का कारण तुरन्त मालूम हो गया! क्योंकि धारा में हाथ डालते ही मुझे फिर हाथ खींच लेना पड़ा। पानी खौल रहा था। गरम पानी से जल कर बेचारे हंसा की आँखें अंधी होते होते रह गयीं। मास्टर साहब बोले, "कुछ हानि नहीं। अभी ठहर जाओ। पानी थोड़ी देर में ठंढा हो जायगा।"

हमारे सुरङ्ग में गरम पानी का भाप भरने लगा। परन्तु थोड़ी देर में जब भाप किसी ओर को निकल गया, पानी पहले से बहुत कुछ ठंडा हो गया। और तब हम सबों ने पेट भर के पानी पी कर अपनी प्यास बुझायी।

जलती हुई प्यास के धीरे धीरे बुझने से जो सुख मिलता है, शायद उससे बढ़ कर सुख संसार में दूसरा नहीं हो सकता। अब हमारे दुख दूर हो गये, फिर सबों के मन में फुर्ती भर गयी, हम लोग फिर जीने का आस करने लगे। मैंने पूछा, यह जल आता कहाँ से है? कहीं से आवे। है तो जल ही न! और चाहे कुछ गरम ही क्यों न हो, इसने हमारे प्राण तो बचा लिये हैं! मुझसे जितना बन पड़ा, मैं बार बार जल ही पीने लगा। पेट में रखने को और ठौर नहीं था, परन्तु

तब भी मेरा मन नहीं भरता था। मैं चाहता था कि बूंद भर भी पानी बह जाने न पावे। मैं अगस्त ऋषि की तरह सब को अपने पेट में धर लूं। अगस्त जी को तो उतने बड़े समुद्र के सोख लेने में कुछ कष्ट भी उठाना पड़ा होगा। जो मेरे पेट में जगह मिलती तो हंसा के खोदे हुए छेद के सामने मुंह फाड़ कर बैठ जाने ही से मेरा काम निकल जाता। परन्तु जब मेरी दारुण पिपासा कुछ शान्त हुई, जब मेरे पेट में और बूंद भर के लिए भी ठौर बाकी न रहा, तब मैंने बैठ कर अपनी बुद्धि को फिर ठिकाने की। तब मैंने कहा, इस पानी में लोहा मिला हुआ है।

मास्टर साहब ने कहा, "हाज़मे के लिए यह बहुत अच्छा है। बोतलों में भर के कलकत्ते भेजा जावे तो सब बाबू लोग अपनी सारी कमाई इसी के मोल लेने में लगा कर अपना हाज़मा दुरुस्त कर लें।"

मैंने कहा, "इसका स्वाद भी बहुत अच्छा है।"

"अच्छा तो होना ही चाहिए। धरती के छ मील नीचे का पानी, और स्वादिष्ट न हो! इसमें स्याही की सी बास आ रही है, पर वह बहुत बुरी भी नहीं है। हंसा ने हम लोगों का कितना भारी उपकार किया है!"

मैंने कहा, "इसमें क्या कुछ सन्देह है? देखिए यह धारा नीचे की ओर छोटी नदी की तरह बहने लगी। मैं इसका नाम हंसगङ्गा रखता हूं।"

मास्टर साहब बोले, "ठीक है। पाताल का भगीरथ हंसा ही सही।"

हंसा हम दोनों की बातें सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। पर उसने कहा, "कौन जाने, इससे आगे हमारी राह ही न डूब

मैंने कहा, "बन्द करना हो तो पहले अपने पानी के बर्त्तन भर लो। नहीं तो कहीं आगे चल कर फिर सूखा न मिले।" हंसा ने बर्त्तन भर लिये और पत्थर के टुकड़ों से छेद को बन्द करने लगा। पर धारा इतने वेग से निकल रही थी कि एक भी पत्थर उसके सामने नहीं ठहरा। मास्टर साहब ने देख कर कहा, "रहने दो, बन्द करके क्या होगा? वह पानी का सोता बहुत बड़ा मालूम पड़ता है। कितनी दूर से दिवाल के भीतर भीतर इसका शब्द सुन पड़ता था। पर मुझे एक बात सूझ रही है।"

"क्या?"

"भगीरथ आगे आगे राह बतला कर गङ्गा को पृथ्वी पर ले आये थे। पाताल का नियम उलटा होना चाहिए। हंस-गङ्गा आगे बह कर हमारा मार्ग बतला देगी। यह जिधर को बहेगी, हम भी उसी राह से नीचे उतरें तो कैसा हो?"

मैंने कहा "वाह! क्या ही अच्छी बात आपने सोची है। जिसने हमारे प्राण बचाये हैं, वह आगे भी हम लोगों को धोखा न देगी। चलिए। अब देर करने की ज़रूरत नहीं है। हंसगङ्गा के पीछे पीछे हम भी चलेंगे।"

मास्टर साहब ने कहा, "अब कल सवेरे चलेंगे। घड़ी तो देखो। रात हो गयी है।"

सचमुच रात बहुत हो गयी थी। पर पानी पीकर मुझे सौ हाथियों का बल हो गया था। उस समय पाताल से राजा बलि भी मेरे सामने आ कर खड़े हो जाते तो मैं उनसे एक बाज़ी कुश्ती लड़ लेता।

समुद्र के नीचे

दूसरे दिन आँख खुलने पर मैं अपना सारा दुःख भूल गया। मुझे पहले अचरज हुआ कि आज प्यास क्यों नहीं लगती। पर हंसगङ्गा के धीरे धीरे बहने के शब्द ने मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया। पहले दिन की सब बातें मुझे याद पड़ गयीं।

हम लोगों ने उठ कर खूब अच्छी तरह नहाया धोया। खा पीकर मुझे आप ही आप बड़ा बल मालूम होने लगा। मैंने सोचा कि अब तो रसातल क्या, मैं रसातल के भी रसातल में जा सकता हूँ।

तब हम लोग फिर चलने लगे। हंसगङ्गा की पतली धारा हमारे आगे आगे धीरे धीरे गाती गुनगुनाती हुई बहने लगी। हम लोग उसीके साथ साथ चलने लगे।

दो दिन पीछे हमको अपने सामने एक बहुत बड़ा सा गड्ढा मिला। मुझे तो देख कर फिर कुछ डर सा होने लगा। पर मास्टर साहब बोले, "अच्छा ही हुआ। थोड़े ही समय में हम लोग बहुत नीचे उतर जावेंगे। और देखो, एक बात यहाँ पर और भी बहुत अच्छी है। हमारे लिए पहले ही से कैसी अच्छी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं!" उनका कहना ठीक था। हम लोग सीढ़ियों पर से उतरने लगे। पर सावधानी के लिए हंसा ने रस्सी भी लटका दी। परन्तु उतरने में बड़ा परिश्रम होने लगा। पाव पाव घंटे में बैठ बैठ कर हम लोगों को दम लेना पड़ा।

चार दिन तक हम लोग सीढ़ियाँ ही सीढ़ियाँ उतरते रहे। पाँचवें दिन सीढ़ियाँ चुक गयीं और फिर ढालुवाँ हो

गया। कई दिन तक कोई नई बात नहीं देख पड़ी। लगातार एकही तरह की सुरङ्ग में हो कर हम लोग चलते रहे। मास्टर साहब ने कहा "हम लोग पृथ्वी के २१ मील नीचे आ गये हैं।" वे बड़ी सावधानी से कम्पास, घड़ी, ऐनीराइड और थर्मामीटर आदि यन्त्र देखा करते, और अपनी जेबी किताब में उनका फल लिख लेते थे। उन्होंने कहा "अब हम लोग समुद्र के नीचे जा रहे हैं।"

मैंने कहा, "समुद्र के नीचे! तो क्या समुद्र हमारे सिर पर है।"

"और नहीं तो क्या? इसमें तुमको आश्चर्य की बात कौन सी मिली? पैसिफ़िक महासागर के नीचे हम लोग आ गये हैं।"

मास्टर साहब को चाहे आश्चर्य की कोई बात न मिली हो, पर मेरे मन में आश्चर्य की लहरें उठने लगीं। हमारे सिर के ऊपर पैसिफ़िक महासागर लहरा रहा था। पर हाँ, हमारी छत ठोस पत्थर की थी, इसीसे मैं अपने मन से सब शंकाएँ हटाने की चेष्टा करने लगा।

हमारी सुरङ्ग अब विचित्र गति से कभी इधर को मुड़ जाती थी, कभी उधर को। और हम लोग पग पग में अधिक गहराई में ही उतरते जाते थे।

एक दिन भोजन के उपरान्त मास्टर साहब अपना गणित लेकर बैठ गये। उन्होंने कहा, "घर लौट कर मैं इस यात्रा का एक मानचित्र (नकशा) बनाऊँगा। मैं प्रत्येक कोण, प्रत्येक ढालू, आदि को बड़ी सावधानी से लिखता आया हूँ। मेरे हिसाब में भूल की सम्भावना बहुत कम है। अच्छा देखो,

इस समय हम लोग कहाँ हैं ? अपना कम्पास तो ले लो। सुई का सिरा किधर को है ?"

मैंने कहा, अब तक बराबर, दक्षिण-पूर्व ही रहा है। पर अब कुछ उत्तर की ओर मुड़ने लगा है।"

"तब तो हम लोग स्याम और उसके आस पास के दूसरे देश पार हो कर प्रशान्त सागर के नीचे आ गये हैं। पासिफ़िक द्वीप-पुञ्ज में से किसीके पास ही हम हैं।

मैंने कहा "कौन जाने, इस समय, समुद्र में आँधी चल रही होगी, हमारे सिर के ऊपर जहाज डूब रहे होंगे।"

"ऐसा होना कुछ असम्भव नहीं है।"

"और ह्वेल और दूसरे बड़े बड़े जलजन्तु पूँछ फटकार फटकार कर हमारी छत में छेद कर रहे होंगे।"

"करने दो। उनसे हमारा कुछ हर्ज न होगा। पर देखो, हम लोग ४८ मील नीचे उतर आये हैं।"

"४८ मील !"

"इसमें कुछ सन्देह नहीं है।"

"पर विज्ञान तो पृथ्वी के ढकन या छिलके की कुल मोटाई इतनी ही बतलाता है।"

"हाँ, तो क्या हुआ ?"

"फिर ताप के नियमों से यहाँ पर की गरमी २७३२ डिगरी फ़ारनहैट होनी चाहिए।"

"अच्छा, फिर ?"

"तब तो इन पत्थर की चट्टानों को पिघल कर बह जाना चाहिए था।"

"पर ऐसी बात तो तुमको नहीं दीखती है न! विचार और सच्ची बात में बहुत अन्तर होता है। विज्ञान का मत चाहे जो कुछ हो, हम तो आँखों देखी बात ही को सत्य समझते हैं।"

"यह बात तो ठीक है। पर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

इसी तरह से बहुत सी बातें वैज्ञानिक नियम के विरुद्ध पायी जाती थीं। परन्तु मास्टर साहब हैड्बी ग्रन्थों में बतायी हुई नियमों के अनुसार नए नियमों को काट दिया करते थे। मैं भी क्या कह सकता था, आँखों देखी बातों के सामने पुस्तकों में पढ़ी हुई बातें झूठी ही जान पड़ती थीं। मैं चुप रह जाया करता था।

भूलभुलैया

ईश्वर की दया से अब तक हम लोगों को किसी विशेष प्रकार की आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा था। इस रीति से, हम लोगों को पूरी आशा हो गयी थी कि हम पृथ्वी-गर्भ के बीचोबीच तक बेखटके पहुँच जावेंगे। हम लोग निःशंक होकर बढ़ते ही जाने लगे। परन्तु कभी कभी मेरे मन में यह शंका हो ही जाती थी कि यह देश बहुत अद्भुत है, क्या यहाँ की दशा सदा ही ऐसी ही मिलेगी? कहीं हम लोग किसी भारी आपत्ति में तो नहीं फँस जावेंगे?

कई दिनों तक हम लोगों को सीधे नीचे ही की ओर उतरना पड़ा और हम लोग पृथ्वी के गर्भ में और भी अधिक गहराई तक पहुँच गये। इस भाँति के उतरने में बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ी थी। परन्तु हंसा का साहस और उसकी गम्भीरता देख कर मुझे भी साहस हो आता था। वह न कुछ बोलता था न चालता। हमारे अगल में, बगल में, ऊपर, नीचे, जिधर देखो उधर ही गूंगे चट्टान खड़े थे। हंसा भी गूंगा बन गया था। मास्टर साहब बहुत ही कम बोलते थे। इससे मुझपर भी गूंगेपन का असर होने लगा। पिछली बातचीत से पीछे पन्द्रह दिन तक बिना बोले चाले मेरी बुद्धि की तीक्ष्णता भी घिस जाने लगी। मैंने सोचा कि इसीसे अकसर जेलखाने के कैदी, जो अकेले बन्द कर दिये जाते हैं और किसीसे बोलने चालने नहीं पाते, बौड़म बन जाते हैं।

इन पन्द्रह दिनों में वर्णन योग्य कोई बात नहीं हुई। पर सोलहवें दिन एक ऐसी घटना हो गयी जिसके बिना कहे मेरी कथा अधूरी रह जावेगी।

उस दिन हम लोग ६० मील की गहराई तक उतर गए। अर्थात् ६० मील के ऊपर, हमारे सिर पर ठोस चट्टान, समुद्र, महादेश और नगर आदि थे। हम लोग तारापुर से दो हज़ार मील की दूरी पर पहुंच गये थे।

उस दिन सुरङ्ग फिर धीरे धीरे ढालू हो गया। मैं सबसे आगे आगे था। मेरे हाथ में एक लालटेन थी। मास्टर साहब के हाथ में एक दूसरी लालटेन थी। मैं अपनी धुन में लगा हुआ चट्टानों को देखता जाता था।

एक जगह पर मैंने मुंह फेरा तो देखा कि मैं अकेला हूँ। मैंने सोचा, मैं बहुत जल्दी जल्दी चल रहा हूँ, इससे मैं औरों से आगे बढ़ आया हूँ, वे भी अभी आहीं पहुँचेंगे।

जब थोड़ी देर तक कोई मेरे पास नहीं आया, मुझसे रहा न गया। मैं उलटे पाँव लौट पड़ा। भाग्य से चढ़ाई बहुत कड़ी नहीं थी।

मैं पाव घंटे तक ऊपर को चढ़ता रहा। अंधेरे में भरसक देखने लगा। मैं चिल्लाने लगा। पर कहीं कुछ नहीं। किसीने मुझे उत्तर नहीं दिया। मेरे अपने ही चिल्लाने का शब्द गूंज गूंज कर मेरे कानों में लौटने लगा।

अब मेरा चित्त घबराने लगा। मेरे सारे शरीर में भय व्याप गया।

मैंने अपने मन को समझाया, "घबराओ मत! मेरे साथी मिल ही जावेंगे। और राह तो एक ही है। वे जायंगे कहाँ? मैं बहुत आगे बढ़ आया हूँ। चलो, लौटते लौटते वे कहीं न कहीं मिल ही जावगे।"

आध घंटे तक मैं ऊपर की ओर चढ़ता रहा। मैंने किसी शब्द के लिए अपने कानों को खड़ा कर रक्खा। परन्तु उस अंधेरे देश में भीषण निःशब्दता का राज्य था।

मैं ठहर गया। मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ। मैंने सोचा, मैं घबरा गया हूँ, राह नहीं भूला हूं।

मैंने कहा, "चलो, जब राह एक ही है, और वे दोनों भी इसी राह पर हैं, तब उनसे भेंट हो ही जायगी। मैं तो उलटे ही चल रहा हूँ। पर कहीं मुझको पीछे छूटा हुआ समझ कर वे भी उलटे ऊपर ही को न जा रहे हों। पर देर करने से क्या होगा? और भी जल्दी चलो। वे कहीं न कहीं ज़रूर मिल जावेंगे।"

कहने को तो यों कह कर मैं मन-समझौती करने लगा। पर कहना, और अपने कहे को आपही, उस दशा में, मान लेना मेरे लिए कठिन हो गया।

मेरे मन में एक शंका हो गई। क्या मैं उनसे आगे था या पीछे? नहीं, नहीं, मैं आगे ही था। हंसा मेरे पीछे था, उसके पीछे मास्टर साहब थे। एक जगह हंसा ने ठहर कर अपनी पीठ पर की गठरी को और भी अच्छी तरह से कस कर बाँध लिया था, यह बात मुझे अच्छी तरह से याद है। ठीक उसी समय पर मैं आगे बढ़ गया होऊँगा।

और भला मैं कहीं राह भूल सकता हूँ? क्या हंसगंगा की धारा मेरे साथ नहीं है? उसीके किनारे किनारे चलने से मुझे अपने साथियों के साथ भेंट हो जावेगी।

इस बात को सोच कर मेरा भय हट गया। धारा की वह विशाल-वाली छेद हंसा के बन्द करने पर भी बन्द न हो सकी थी, इसको मैं ईश्वर की दया समझने लगा। मैंने कहा, देखो, हमारी प्यास बुझाने के सिवाय यह धारा हमको राह भी बतला रही है। क्या यह थोड़े सौभाग्य की बात है? यों सोच कर मैं बैठ गया, और अपने हाथों से हंसगंगा की धारा को टटोलने लगा। मैंने चाहा कि अपना मुख धो लूं।

परन्तु मेरी आशा उस विशाल सुरङ्ग के घने अँधेरे में उड़ गयी। हंसगंगा का वहाँ नाम भी न था। सूखे चट्टानों पर मेरे हाथ रगड़ने लगे।

नरक का अँधेरा

अपनी निराशा का वर्णन मैं कैसे करूं? उसके लिए पूरे शब्द ही नहीं मिलते। अंधेरे रसातल में मैं अकेला बिछुड़ गया। अब भूख, प्यास और भय के मारे मेरे लिए मृत्यु से अधिक और किस बात की आशा रह गयी थी?

मैं पागलों की तरह भूमितल को हाथों से टटोलने लगा। पर वह महाकठोर, बिलकुल सूखा चट्टान ही था।

पर मैंने हंसगंगा की धारा कैसे छोड़ दी? इसमें कुछ भी सन्देह नहीं था कि वह मेरे पैरों के पास हो कर नहीं वह रही थी।

तब मुझे उस भीषण निःशब्दता का कारण जान पड़ा। इसी लिए मेरे साथी मेरे गला फाड़ डालने पर भी उत्तर नहीं देते थे। मेरी बोली उनके कानों तक पहुँचती ही न थी। मैं कहाँ था, और न जाने वे कहाँ थे। हो न हो कहीं पर दो राहें हो गई होंगी, मैं एक ओर और वे लोग दूसरी ओर चल पड़े होंगे।

पर मैं लौटूं कैसे? भूमि पर किसीके पैरों के चिह्न भी तो नहीं थे। कहीं पत्थर पर भी पैरों के चिह्न पड़ते हैं? पर अब क्या करना चाहिए? मैंने अपने मस्तिष्क को बहुत चलाया, बहुत डुलाया, पर इस आपत्ति से छुटकारा पाने का कोई उपाय न सूझा। पृथ्वी के पेट के भीतर मैं अपनी राह भूल गया। अब कहाँ जाऊँ?

पृथ्वी का पेट! भला उस पेट का कुछ ठिकाना था! कहीं उसका ओर छोर भी था! ९० मील के मोटे चट्टान मेरे

सिर पर लदे हुए थे। मुझे जान पड़ा कि मैं उनकी बोझ से पिसा जा रहा हूं।

मैं अपने विचारों को पृथ्वी पर ले चला। मैंने पृथ्वी पर की बातें सोच कर अपना जी बहलाना चाहा। पर उस समय मेरे मन की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। मन ने काम ही न किया। अपना घर, नर्मदा, और दूसरी बातें, सब मेरे मस्तिष्क में आ आ कर कूदने लगीं, तुरन्त ही सब की सब कुदकें मार मार कर अंधेरे में छिप जाने लगीं। किसी बात पर ध्यान जमता ही न था। किसी बात से मन को ढाढ़स नहीं मिलता था। मेरे मस्तिष्क में सब बातें ऊपर, नीचे, इधर, उधर, दौड़ने लगीं। मेरे मन की चञ्चलता का कुछ ठिकाना न रहा। शायद मेरी अन्तिम दशा में आशा की हलकी से भी हलकी, उस घने अंधेरे में सुई की नोक के बराबर की भी, ज्योति मेरे लिए अच्छी नहीं थी। शायद उस समय आशा करना निरा पागलपन था। शायद निराशा ही मेरे लिए सबसे अच्छी वस्तु थी।

क्या कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे मेरे ऊपर का भारी चट्टान बीच में से फट जावे, और उस दरार में होकर सूर्य्य की एक किरण—पृथ्वीतल के उस चमकते हुए बुड्ढे सूर्य्य की किरण—मेरे सामने आ पड़े? क्या कोई मुझ भटके हुए की अँगुली थाम कर ठीक राह पर नहीं ले जा सकता है? क्या अब अपने साथियों के साथ मेरी भेंट न होगी?

"मास्टर साहब! मास्टर साहब!" कह कर मैं चिल्लाने लगा।

काली काली अँधेरी गुफाएँ दूर दूर से मेरी बात को लौटा कर मुझे चिढ़ाने लगीं।

जब सारी मानुषी कल्पनाएँ हार गयीं, जब किसी बात ने मेरी सहायता न की, मैंने ईश्वर की शरण ली। मुझे अपने लड़कपन की, अपनी माता की, जो मुझे बचपन ही में पृथ्वी पर छोड़ कर स्वर्गलोक को चली गयी थीं, याद आ गयी; मैं हाथ जोड़ कर करुणानिधान से रत्ती भर करुणा की भीख माँगने लगा। मैंने सोचा, क्या मैं करुणा पाने के योग्य हूँ ? क्या करुणामय मेरी बात मान लेंगे ?

अशरण-शरण विघ्न-विदारण दयासागर के चरणों में जब मैंने अपना तन मन सौंप दिया, तब मेरे मन में फिर धीरे धीरे शान्ति लौटने लगी, डर धीरे धीरे मेरे मन में से निकल कर भागने लगा। मेरी बुद्धि फिर लौट आयी। मैं फिर अपनी दशा पर विचार करने के योग्य हो गया।

मेरे पास तीन दिन के लिए भोजन था। मेरे कुप्पे में पानी भरा था। पर यहाँ पर मैं कब तक पड़ा रहूँ ? मैं ऊपर जाऊँ या नीचे ?

ऊपर ! ऊपर !! ऊपर ही जाऊँगा !

ऊपर चलने से मैं फिर उस ठौर पर पहुँच जाऊँगा जहाँ से दो राहें हो गयी हैं। वहाँ पर जल की धारा फिर मिल जावेगी। उसीके किनारे किनारे मेरे साथी जाते होंगे। मैं भी धारा के साथ उनके पास पहुँच जाऊँगा।

यह बात पहले मुझे क्यों नहीं सूझी थी ? प्राण बच जाने की कुछ आशा तो इस बात में है न ? हंसगङ्गा तक किसी भाँति पहुँचना ही चाहिए।

मैं उठ खड़ा हुआ और लोहे की नोक लगी हुई अपनी लाठी को टेक कर फिर ऊपर चढ़ने लगा। अब चढ़ाई कुछ कड़ी हो गयी थी। मैं मन में आशा भर कर ईश्वर का नाम ले कर चलने लगा।

आधे घंटे तक मुझे किसी तरह की रुकावट न मिली। मैंने सुरंग की सूरत और दिवालों में से निकले हुए पत्थरों को देख कर अपनी राह पहचानने की चेष्टा करने लगा। परन्तु पुरानी राह का कोई चिह्न मुझको नहीं मिला। मुझे मालूम हो गया कि इस राह से मैं पुराने तिराहे पर नहीं पहुँच सकूँगा। मेरी शङ्का ठीक निकली। थोड़ी देर में मेरा सिर सामने के चट्टान से टकरा गया। मैं वहीं गिर पड़ा। सामने जाने के लिए और राह नहीं थी।

अब फिर अकथनीय निराशा मेरे मन में भर गयी। मेरी अन्तिम बची बचाई आशा चट्टान में ठोकर खा कर चकनाचूर हो गयी। मैं अपनी आँखे फाड़ कर चुपचाप पड़ा पड़ा अंधेरे में देखने लगा।

सुरंग की भूलभुलैया में फँस कर मैं उसमें से किधर हो कर बाहर निकलता? बहुत सी सुरंगें इधर से उधर चारों ओर फैल रही थीं। मुझको उनमें से अपनी असली राह पाने की कोई आशा न रही। यहीं पर मुझको मरना बदा था। मैं सोचने लगा कि जब कभी आगे किसी समय में कोई दूसरा यात्री पृथ्वी के पेट में ६० मील नीचे आ कर मेरी सूखी हड्डियों को देखेगा, उस समय उसके मन में कैसी भावनाएँ होवेंगी! मेरी हड्डियों पर कैसे कैसे वैज्ञानिक विचार किये जावेंगे!

मैं अपनी आपत्ति से यों ही बहुत घबरा रहा था। अब

और भी एक बात हो गयी। मेरे गिरने से लालटेन की कल बिगड़ गयी थी। मैं उसे ठीक नहीं कर सका। शिखा पहले से बहुत धीमी पड़ गयी थी। मैंने जान लिया कि वह थोड़ी ही देर में बुझ जावेगी।

बिजली के तार पर शिखा धीरे धीरे पतली पड़ने लगी। मैं हताश हो कर उसकी ओर देखने लगा। सैकड़ों हिलती हुई परछाइयाँ अंधेरी दिवालों पर दौड़ने लगीं। बत्ती के बुझ जाने के डर से मैं पल भर के लिए भी अपनी आँखें नहीं बन्द कर सका। वह पल पल में बुझने पर हो गयी और घना अंधेरा लुढ़कता हुआ मेरे ऊपर आ कर गिरने लगा।

अन्त में लालटेन की शिखा एक बार काँप कर जल उठी और तुरन्त बुझ गयी। उस काँपती हुई धीमी शिखा को भर सक टकटकी बाँध कर मैं अपनी आँखों से पीने लगा और तुरन्त काले, घने और गहरे अंधेरे में गोता मारने लगा। नरक के से अन्धकार में मैं डूब गया।

मेरे मुख से ज़ोर से एक भयानक शब्द निकल पड़ा। पृथ्वी पर अंधेरी से भी अंधेरी रात में भी, उजियाले का कुछ न कुछ अंश बना ही रहता है। काले से भी काले अंधेरे में कुछ न कुछ सफ़ेदी मिली रहती है। उसके भीतर भी आँखें थोड़ी देर में कुछ न कुछ देख सकती हैं। पर यहाँ, पृथ्वी के विशाल पथरीले पेट के भीतर, उजियाले का एक परमाणु—परमाणु का परमाणु भी—नहीं था। घने अंधेरे के भीतर मेरी आँखें बिलकुल अंधी हो गयीं।

तब फिर मेरे शिर में चक्कर आने लगा। मैं अपने सामने हाथ पसार कर खड़ा हो गया। अंधेरे में टटोल टटोल कर

वृथा अपना मार्ग ढूंढ़ने लगा। मैं पागलों की भाँति हाथ पसार कर दौड़ने लगा। मेरे पाँव बड़े वेग से उठने लगे। मैं सीढ़ियों पर से कूदकर, उछलकर, नीचे उतरने लगा। अंधेरे में बे-सोचे समझे मैं घुड़दौड़ करने लगा। मैं चिल्लाने लगा, चीखने लगा, ठोकरें खा खा कर मैं गिरने लगा; फिर उठने, दौड़ने और चीख मारने लगा; पत्थरों से ठोकरें खा खा कर मेरे हाथ पैर लोहूलुहान हो गये। मैं पल पल में अपना सिर किसी पत्थर की नोक से टकरा कर चूर चूर हो जाने के लिए मनाने लगा।

मैं नहीं जानता, मेरी उन्मत्तता मुझे कहाँ ले गयी! कई घंटों बाद, जब शरीर का सारा बल चुक गया, मैं मांस की लोथ की भाँति एक पत्थर के नीचे गिर पड़ा, मेरी चेतना जाती रही।
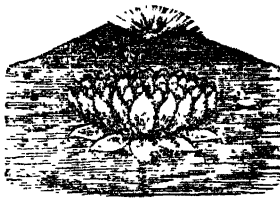
शब्दवाही सुरङ्ग

जब फिर मुझे चेतना हुई, मेरा मुख आँसू से भीग रहा था। मैं कब तक अचेत पड़ा था, मैं नहीं जानता। समय का हिसाब लगाने का कोई उपाय मेरे पास नहीं था। कोई काहे को कभी मेरी सी दशा में पड़ा होगा ?

गिर जाने पर मेरे शरीर से बहुत सा खून निकल गया था। अब भी कई ठौर से निकल रहा था। ओः, यदि मैं मर जाता तो क्या ही अच्छा होता ! मुझे फिर किसी बात की चिन्ता न रहती। मैंने सोचना बिलकुल छोड़ दिया। लुढ़कता हुआ मैं दूसरी दिवाल के पास जा पहुँचा।

मुझे फिर मूर्च्छा सी आ रही थी। फिर मेरी चेतना हटने लगी थी। इतने में मेरे कानों में कोई शब्द पहुँचा। वह शब्द बहुत दूर पर वज्रनाद का सा जान पड़ता था। मानो दूर से—बहुत दूर की किसी सुरंग में से—लुढ़क लुढ़क कर वह मेरे कानों तक पहुँच रहा था।

यह कैसा शब्द था ? कहाँ से आ रहा था ? यह वहाँ पर किसी स्वाभाविक वैज्ञानिक प्रक्रिया से आप ही निकल रहा होगा ? क्या कहीं पर गैस में आग लग गयी थी ? क्या कोई भारी चट्टान टूट कर गिर पड़ था ?

मैं पड़ा पड़ा सुनता रहा। पर थोड़ी देर के लिए फिर सब चुपचाप हो गया। मेरे कलेजे के धड़कने को छोड़ मुझे और कुछ न सुन पड़ा।

लगभग पाव घंटे के पीछे मेरे कानों में फिर कुछ भनक

सी पड़ी। इस बार किसीके बोलने का सा कुछ हलका सा शब्द आने लगा।

मैंने समझा, यह कैसी माया है? मेरा मस्तिष्क गड़बड़ हो गया है, इसीसे यह शब्द झूठ मूठ सुन पड़ते हैं।

पर नहीं। फिर कान लगा कर सुनने से किसीके बोलने का सा ही शब्द आने लगा। पर मैं इतना दुर्बल हो गया था कि उस शब्द को साफ़ साफ़ समझ न सका।

पल भर के लिए मैंने समझा, मेरी ही बोली सुरंग के मेह-रावों में गूंजती होगी। मैं फिर चुपचाप सुनने लगा।

हाँ, हाँ, अब कोई सन्देह नहीं है। यह मनुष्य की ही बोली है!

मुझसे कुछ ही दूर पर कोई मानो बोल रहा था। मुझे हंसा की सी बोली सुन पड़ी।

जितने ज़ोर से मुझसे बन पड़ा, मैंने चिल्ला कर कहा, "हंसा! हंसा! बचाओ! बचाओ! मैं मरा!!"

मैं सुनने लगा। अंधेरे में उत्तर के लिए कान लगा कर बैठ रहा। पर कुछ देर तक कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने समझा, मुझमें शक्ति तो है नहीं, इसीसे मेरी बोली उन तक नहीं पहुँची। मेरे साथियों को छोड़ यहाँ और कौन हो सकता है? उनको छोड़ और किसे यहाँ पर आने का काम पड़ा होगा?

मैं फिर सुनने लगा। इस बार सचमुच कोई मेरा नाम लेकर पुकारने लगा। यह मास्टर साहब की बोली थी। वह हंसा से बोल रहे थे।

तब सब बातें समझ में आ गयीं। मैंने जान लिया, इसी दिवाल पर मुंह रख कर बोलना चाहिए। मैंने मास्टर साहब

को पुकारा. और फिर दिवाल के पास कान लगा कर सुनने लगा।

मैं बड़े आग्रह से सुनने लगा। शब्द बहुत जल्दी से नहीं चलता है। और जब वायु घना होता है, तब शब्द की दौड़ और भी धीमी हो जाती है। एक एक पल मुझे एक एक युग से जान पड़ने लगे। पर तभी मैंने यह सब्द सुने—

"रञ्जन! रञ्जन! तुम कहाँ हो?"

"मैं अंधेरे में पड़ा हूँ!"

"तुम्हारा लालटेन कहाँ गया?"

"बुझ गया है?"

"और पानी की धारा?"

"वह भी लुप्त हो गयी है?"

"रञ्जन! रञ्जन! घबराओ मत।"

"ठहर जाइए। मुझमें दम नहीं है। मैं बोल नहीं सकता। आप बोलते रहिए।"

मास्टर साहब ने फिर उस अद्‌भुत बे-तार की तारबर्क़ी की सहायता से कहा—

"रञ्जन! साहस मत छोड़ो। बोलो मत। मेरी बात सुनते रहो। हमने तुम्हारे लिए यहाँ की गली गली छान डाली है। पर तुम नहीं मिले। मैं तुम्हारे लिए रो रहा था। तुमको हंसगंगा के किनारे जान कर मैंने अपनी बंदूक चलायी थी। हम तुम्हारे साथ बोल सकते हैं। हम लोगों की बोली एक दूसरे के पास पहुँच सकती है। पर हम मिल नहीं सकते। पर रञ्जन. मत घबराओ। इतनी भी बड़ी बात है कि हम लोग एक दूसरे की बोली सुन सकते हैं।"

मैं चुपचाप सुनने लगा। मेरे अन्तःकरण में फिर आशा की एक कणी जमने लगी। मैंने फिर दिवाल पर अपना मुख रख कर कहा—

"मास्टर साहब !"

"बेटा ! कहो, क्या है ?"

"हम लोग आपस में कितनी दूर हैं ?"

"अच्छा। यह तो सहज बात है।"

"आपका क्रानोमीटर है न ?"

"है।"

"अच्छा, उसे हाथ में ले लीजिए। मेरा नाम लीजिए, और देखते जाइए, नाम लेने में कितने सेकंड लगते हैं। मैं भी उसे सुनतेही दोहराऊँगा। फिर कितनी देर में मेरी बोली आपके पास पहुँचती है, सो भी आप देख लीजिएगा।"

"अच्छा, मेरे बोलने और तुम्हारा उत्तर आने में जो समय लगेगा, उसका आधा समय एक ओर की बोली पहुँचने में लगता है।"

"ठीक है।"

"मैं बोलूं ?"

"हाँ।"

"अच्छा, अब सुनो। मैं तुम्हारा नाम लेता हूँ।"

मैंने कान लगा कर सुना "रञ्जन।" मैंने भी तुरन्त कहा "रञ्जन !"

मास्टर साहब ने कहा "चालीस सेकंड। दो बोलियों के बीच में चालीस सेकंड लगे। बीस सेकंड में बोली पहुँचती

हैं। अब, एक सेकंड में १,१२० फुट के हिसाब से ~२२,४०० फुट हुए। हमारे और तुम्हारे बीच में सवा चार मील का अन्तर है।

मैंने कहा "सवा चार मील !"

"कुछ चिन्ता नहीं। वह अभी तै हो जावेंगे।"

"मैं ऊपर जाऊँ या नीचे ?"

"नीचे। इसका कारण यह है। हम एक महा-विशाल गुफा में हैं। इस गुफा में सब ओर से अनगिनती गलियाँ निकल गयीं हैं। हम केन्द्र में हैं। गलियाँ व्यासार्द्धों की नाईं चारो ओर फैली हुई हैं। तुम हमारे ऊपर हो। सो अब देर मत करो हमारे पास चले आओ। जो शरीर में शक्ति न हो तो ऊँचा जगहों से नीचे की ओर बैठ बैठ कर खिसक आओ। इस तरह से हमारी गुफा में आ जाओगे।"

इन बातों को सुन कर मुझको बड़ा आनन्द हुआ। मैंने कहा, " अच्छा मैं आता हूँ। पर चलती बेर आपके साथ मैं नहीं बोल सकूंगा।"

"अच्छा, रञ्जन ! कुछ हानि नहीं। पर अब देर मत करो।"

यही वाक्य मैंने वहाँ अन्तिम सुने। सवा चार मील के अन्तर से हम लोगों की यह आश्चर्य सुरङ्गी बात चीत इस भाँति शेष हुई। मैंने बड़े भक्तिभाव से ईश्वर को धन्यवाद दिया,-क्योंकि उसीने मुझे उस भूलभुलैया में ऐसी ठौर पर पहुँचा दिया था जहाँ से मैं अपने साथियों से बोल सका।

जिधर से शब्द मेरे कानों में पहुंचा था, मैं उसी ओर चलने लगा। परन्तु मेरे पाँव नहीं उठते थे। मैं बहुत दुर्बल हो गया था। जब आगे चल कर राह बहुत ढालू हो गयी, मैं बैठ कर नीचे की ओर खिसकने लगा। परन्तु उतराई की ढालू बहुत बढ़ गयी। मैं इतने वेग से खिसकने लगा कि मैं अपने शरीर को रोक न सका। मैंने समझा, नीचे गिर कर मेरी देह चूर चूर हो जावेगी। इतने ही में एक पत्थर से मेरा सिर टकरा गया और मैं फिर अचेत हो कर गिर पड़ा।

पुनर्जीवन

जब फिर मुझे सुध हुई, मैंने देखा मैं कम्बलों पर पड़ा हूं, और उस जगह मटमैला सा उजियाला छा रहा है और मास्टर साहब मेरे मुख पर बड़े आग्रह से झुक कर देख रहे हैं। मुझको आँख खोलते देख कर वे आनन्द से बोल उठे, "अभी जीता है, जीता है!"

मैंने धीरे से कहा, "हाँ मैं जीता हूँ।"

मास्टर साहब ने आँखों में आँसू भर कर कहा, "रञ्जन! बेटा! तुम बच गये!"

मैंने मास्टर साहब को जब देखा था तभी कठोर पाया था। अब उनके अन्तःकरण को करुणा से पसीजते देख कर मेरा भी जी भर आया। मैंने सोचा, मास्टर साहब का कलेजा पत्थर का है। उसीको नरम करने के लिए भगवान् ने मुझे यह दुख दिया है। यह बात सोच कर मुझे आनन्द होने लगा।

हंसा भी मुझे देख कर बड़ा प्रसन्न जान पड़ा। वह मेरी टहल में लगा था। मेरे घावों पर पट्टियाँ बाँध रहा था।

मैंने मास्टर साहब से पूछा, "अब बताइये, हम लोग कहाँ पर हैं।"

"कल बतायेंगे। रञ्जन! कल तक और ठहर जाओ।"

"पर इतना तो बतलाइये कि आज कौन सी तारीख़ है। इस समय क्या बजा है?"

"आज रविवार, और आठवीं अगस्त है। इस समय रात के दस बजे हैं। अब और कुछ मत पूछो। कल तक आराम कर लो। परसों से फिर चलना होगा।"

सचमुच मैं बहुत कमज़ोर हो गया था। बोलने की शक्ति मुझ में नहीं थी। चार दिन तक मैं पृथ्वी की अँतड़ियों के भीतर भटका किया हूँ, यह सोच कर मैं सो गया।

दूसरे दिन सवेरे जग कर मैंने देखा, मैं एक बहुत ही मनोरम गुफा में पड़ा हूँ। गुफा बड़े सुन्दर सुन्दर मेहराबों की बनी थी। पत्थर के खम्भों पर मेहराब खड़े थे। भूमि पर बड़ी बारीक बालू बिछी थी। गुफा में हलका सा उजियाला भरा हुआ था। न कोई मशाल जलता था, न लालटेन; तब भी न मालूम कहाँ से गुफा के भीतर उजियाला आ रहा था। दूर से एक हलका सा शब्द सुन पड़ता था, मानो समुद्र की लहरें किनारे से टकरा रही हैं। बीच बीच में वायु के चलने का सा शब्द भी सुन पड़ने लगा।

मैंने सोचा, यह क्या बात है? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? क्या मैं सोता हूँ या जागता? हो न हो गिर पड़ने से मेरा दिमाग़ बिगड़ गया है, और इसीसे मेरे कानों में ये शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। पर नहीं, मैं जागता ही तो हूँ। फिर यह क्या बात है?

मैंने देखा, गुफा की एक दरार में होकर दिन का सा उजियाला आ रहा है। सचमुच हवा चल रही है; समुद्र की लहरों के टकराने का सा ही शब्द हो रहा है। क्या हम लोग फिर पृथ्वी पर आ गये?

मैं आप ही आप इस भाँति सोच रहा था कि मास्टर साहब वहाँ पर आये। वे मेरे मिजाज़ का हाल पूछने लगे। मैं उठ बैठा और बोला, "आज मैं बहुत अच्छा हूँ"।

"हाँ, तुमको अच्छा ही रहना चाहिए। रात में तुम खूब अच्छी तरह सोये हो। हंसा और हम रात भर पारी पारी से तुम्हारे पास बैठे थे।"

"हाँ, अब मैं पहले से बहुत अच्छा हूँ। मुझे अब भूख भी लग रही है। हंसा कहाँ गया? मुझको कुछ खाने को देता तो अच्छा होता।"

"हाँ, हाँ, अब तुमको कुछ खाना चाहिए। बुख़ार उतर गया है। हंसा तुम्हारे हाथ पैरों में दवा मल रहा था। अब और किसी बात का डर नहीं है।"

हम कह चुके हैं कि इस यात्रा के लिए हमारे भोजन की सामग्रियाँ सब वैज्ञानिक नियमों से बनायी गयी थीं। थोड़ा सा खा लेने ही से भूख बुझ जाती थी और शरीर में बल बना रहता था। मास्टर साहब ने गरम पानी में जमाया हुआ दूध मिला कर मेरे लिए गरम दूध बना दिया और दो एक और भी हलकी बलकारिणी चीज़ें बना कर मुझे दीं। भोजन करने पर मेरे शरीर में फिर बल लौटने लगा। तब मैं उनसे बहुत सी बातें पूछने लगा। उन्होंने कहा, "रञ्जन! तुम जिस वेग से गिरे थे, उससे तुम्हारा फिर जी जाना बड़े आश्चर्य्य की बात है। तुम्हारे साथ साथ कई भारी भारी पत्थर भी लुढ़क आये थे। उनमें से एक भी तुम्हारी देह पर पड़ जाता तो तुम चकनाचूर हो जाते। ईश्वर ने बड़ी कृपा की है कि तुम्हारे प्राण बच गये हैं। अब आगे कभी हमारा सङ्ग मत छोड़ना।"

मैंने कहा, "मैं बच तो गया हूँ। पर न बचता तभी शायद अच्छा होता। मेरे दिमाग़ में फरक पड़ गया है।"

"क्या हुआ है ?"

"अभी तक मैं सब बातों को उलटा पलटा देख रहा हूँ। शायद गिरने से मेरा मस्तिष्क बिगड़ गया है।"

"नहीं, नहीं, क्या बक रहे हो ?"

"हाँ, मुझे तो ऐसा ही डर लग रहा है। हम लोग फिर पृथ्वी पर तो नहीं आ गये हैं ?"

"नहीं। किसने कहा ?"

"तब मैं ज़रूर पागल हो गया हूँ। क्योंकि मुझको दिन का सा उजियाला देख पड़ता है। हवा चल रही है। समुद्र की लहरें टकराती हुई सुनायी पड़ती हैं।"

"अरे, यही बात ?"

"क्यों, आप इनसे क्या समझते हैं ? मुझे समझा कर कहिए।"

"समझाने की बात हो तो समझाऊं। तुम अपनी आँखों से देख लेना, तब मेरे समझाने की कोई ज़रूरत नहीं होगी। अभी वैज्ञानिकों को भू-गर्भ के तत्वों का बहुत ही कम ज्ञान है।"

"तब चलिए, जो कुछ है, मुझे दिखा दीजिए।"

"नहीं, रञ्जन ! नहीं। खुली हवा तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए अभी अच्छी नहीं होगी।"

"खुली हवा ?"

"हाँ, हवा बड़े ज़ोर से चल रही है। अभी तुमको बाहर नहीं निकलना चाहिए।"

"पर मैं अब बहुत अच्छा हूं।"

"ठहर जाओ, बेटा! घबराने से काम नहीं चलता। फिर बुखार आ जायगा तो जल्दी आराम होना कठिन हो जावेगा। और अब बहुत देर करने का अवसर नहीं है। अब हम लोगों को बहुत दिनों तक समुद्र पर यात्रा करनी पड़ेगी।"

"समुद्र की यात्रा ?"

"हाँ। कल हम लोग नाव पर बैठ जावेंगे।"

"नाव ?"

मास्टर साहब यह क्या कह रहे हैं ? यहाँ समुद्र कहाँ से आ गया ? और हम लोगों के लिए नाव किसने बाँध रक्खी है ?

मेरी उत्कण्ठा बहुत बढ़ गयी। मुझसे और नहीं रहा गया। मास्टर साहब लाख मना करते रहे, पर मैं झट पट उठ खड़ा हुआ। गरम कपड़े पहन कर मैंने ऊपर से कम्बल ओढ़ लिया, और गुफा से बाहर चला गया।

नयी माया

बाहर आने पर पहले पहल कोई वस्तु मुझको अच्छी तरह नहीं देख पड़ी। मेरी आँखों को उजियाले से चकाचौंध लगने लगा। मैंने उनको झट से बन्द कर लिया। इतने दिनों तक रात दिन अँधेरे में रह कर मेरी आँखों को उजियाले का अभ्यास छुट गया था। परन्तु जब मैं आँखें खोल सका, मैंने जो कुछ देखा उससे मेरी बुद्धि चकराने लगी। हैं! समुद्र! यह वाक्य अकस्मात् मेरे मुख से निकल पड़े।

मास्टर साहब ने कहा, "हाँ, यह भूगर्भ-सागर है। आज तक किसी दूसरे मनुष्य ने इसको नहीं देखा है।"

जहाँ तक दृष्टि जाती थी, एक समुद्र या विशाल ह्रद का एक अंश सामने देख पड़ता था। समुद्र के किनारे पर महीन बालू बिछी हुई थी। उस पर लहरें दौड़ दौड़ कर आतीं और फिर लुढ़क लुढ़क कर चली जाती थीं। छोटी छोटी घोंघियाँ, कौड़ियाँ और सीपियाँ बालू पर पड़ी हुई थीं। मटके के भीतर जिस भाँति पानी लुढ़कने का शब्द हुआ करता है, इन लहरों से भी उसी भाँति का एक अनोखा गूंजता हुआ शब्द हो रहा था। यह समुद्र भूगर्भ के भीतर था, इसीसे उस भाँति का शब्द हो रहा था। लहरों के ऊपर मन्द मन्द वायु के झकोरे से धुएँ के से हल्के हल्के पानी के फेन उड़ रहे थे, और मेरी देह पर उनके छींटे उड़ उड़ कर पड़ते थे। ढालू किनारे पर, पानी की पहुँच से कोई ६०० फुट ऊपर, बड़े ऊँचे पहाड़ दिवालों की तरह खड़े थे। दूर में धुँधले आकाश पर पहाड़ों की चोटियाँ काली काली लकीरों की सी देख पड़ती थीं।

हमारे सामने एक अच्छा ख़ासा समुद्र अपना टेढ़ा मेढ़ा किनारा फैलाये लेटा हुआ था। परन्तु चारों ओर वीरान और सुनसान पड़ा था।

उस बड़े समुद्र के दूसरे पार तक की सब वस्तुएं मुझको दिखायी देती थीं। इसका कारण एक अद्भुत् प्रकार का उजियाला था। यह उजियाला सूर्य की चमकती हुई किरणों से नहीं आता था: न चन्द्रमा की धुंधली ठंडी चाँदनी ही थी। नहीं, कोई नक्षत्र, कोई ग्रह तक उस आकाश में नहीं देख पड़ा। उस उजियाले का प्रकाश, उसका काँपता हुआ धुंधलापन, उसकी स्वच्छ सफ़ेदी, उसकी उज्वलता और ठंढक, यह सब किसी वैद्युतिक प्रक्रिया का फल मालूम पड़ता था। पृथ्वी-मण्डल पर उत्तरी ध्रुव के बर्फ़ीले खंडों में जहाँ पर सूर्य के किरण छः महीने तक नहीं पहुँचते, एक प्रकार का प्रकाश यात्री, लोग देखा करते हैं, उसको अंग्रेज़ी में (Aurora borealis) औरोरा बोरियालिस कहते हैं। यह प्रकाश भी उसी जाति का सा जान पड़ता था, जो बारहों महीने एक ही भाँति से पृथ्वी के उस खोखले पेटे में समुद्र के ऊपर बना रहता था।

हम लोगों के सिर के ऊपर का महराब, जिसे शायद आकाश भी कह सकते हैं, बड़े बड़े बादलों के मिलाप से बना हुआ मालूम होता था। बादल भाप से भरे हुए और इधर उधर दौड़ते हुए देख पड़ते थे, और जान पड़ता था कि मेह भी मूसलधार से बरसा करता होगा। मैं तो समझता था कि वायु के इतने भारी दबाव के कारण वहाँ पर पानी का बरसना सम्भव ही न था, परन्तु न जाने किस वैज्ञानिक नियम से भाप के बड़े बड़े खेत हवा में लटक रहे

थे। परन्तु इतने पर भी दिन बरसात का सा नहीं लगता था, वह बहुत साफ़ और स्वच्छ जान पड़ता था। वैद्युतिक प्रभा की चञ्चलता बादलों पर अद्भुत छटा फैला रही थी। उनके सबसे नीचेवाले खण्डों पर गहरे रङ्गों की लकीरें सी लटकती थीं, और बादलों के दो भिन्न भिन्न तहों के बीच में बहुत ही चमकीले रङ्ग दौड़ रहे थे। परन्तु यह प्रकाश सूर्य के कारण नहीं था। इसमें गरमी नहीं थी। सारा दृश्य उदासी से भरा हुआ था। अन्तःकरण पर उसका बहुत ही गेता हुआ सा प्रभाव छा जाता था। हीरों की कनियों की भाँति जगमगाते हुए तारों से जड़े हुए चमकीले आकाश के बदले कुछ ऐसा निराशा से भरा हुआ उदास चित्र देख पड़ा जिस से मेरे मन पर कुछ बोझ सा लद गया।

मैं चुपचाप इस अचरज को देखने लगा। मेरे मन का भाव कहा नहीं जाता। उस समय अपने मन की अद्भुत भावनाओं को वर्णन करने के लिए वाक्यों का अभाव होता है। मैं खड़ा खड़ा देखने लगा, सोचने लगा, आश्चर्य मानने लगा, मन में कुछ भय, कुछ विह्वलता सी भरने लगी।

डाक्तर लोग बीमारों को जल-वायु बदलने की सलाह दिया करते हैं। मैं भी भाग्य के फेर से बीमार हो गया था। अकस्मात् इस आश्चर्य और नये आब-हवा में आकर मुझे आप ही आप पहले से कुछ अच्छा लगने लगा। मेरे गालों पर लाली छाने लग गयी। अचरज की सहायता से मेरा इलाज नये ढङ्ग से होने लगा। नये वैद्यक-शास्त्र के नियमों से मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा। वहाँ का घना वायु मेरे मन को फुर्तीला बनाने लगा, मेरे फेफड़ों में ऑक्सीजन खूब भरने लगा।

सतालिस दिन तक तङ्ग और अँधेरी सुरङ्ग में कैद रहने के उपरान्त सामुद्रिक स्वच्छ वायु से स्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव हो सकता है, यह बात आप ही समझ में आ सकती है।

अँधेरी गुफा से निकल कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मास्टर साहब को इस नये दृश्य का पहले ही से अभ्यास हो गया था, इसलिए उन्होंने आश्चर्य मानना छोड़ दिया था। उन्होंने मुझसे पूँछा, "अब तो तुमको चलने फिरने में कुछ बल मिलता है न ?"

"हाँ। इससे बढ़ कर आनन्द मिलना असम्भव है।"

"अच्छा, मेरा हाथ थाम लो। आओ समुद्र के किनारे चलें।"

हम लोग इस अद्भुत् समुद्र के किनारे किनारे चलने लगे। बाँई ओर चट्टानों के बहुत बड़े बड़े टुकड़े एक दूसरे पर रक्खे हुए थे, मानो बड़े बड़े विशाल शरीरवाले दैत्य वहाँ पर खड़े थे। उनके नीचे सैकड़ों जल की स्वच्छ धाराएँ कल कल शब्द करती हुई समुद्र से भेट करने के लिए बह कर आ रही थीं। कई जगहों पर हलके हलके भाप एक चट्टान से दूसरी चट्टान पर उछल उछल कर गरम पानी के सोतों का ठौर बता रहे थे। सब धाराओं के बीच में हमारी हंस-गङ्गा भी अपना शरीर समुद्र में डुबा देने के लिए धीरे धीरे आ रही थी। उसको देख कर मैंने कहा, "अब इसका और हमारा साथ छुटा। इस बेचारी ने राह बता कर हमारी बड़ी सहायता की है।"

मास्टर साहब ने कहा, "छुटा करे। चाहे जिस धारा ने हमको राह क्यों न बतायी हो, इससे क्या होता है ?"

मैंने सोचा, मास्टर साहब कैसे कृतघ्न हैं !

परन्तु इस समय एक नयी ही वस्तु ने हमारी दृष्टि आकर्शित की। पाँच सौ कदम की दूरी पर, एक ऊँचे अन्तरीप पर, एक घना जङ्गल दिखाई पड़ा। जङ्गल के वृक्ष बहुत ऊँचे न थे और देखने में छातों की तरह मालूम पड़ते थे। हवा के झकोरों से उनकी एक पत्ती तक नहीं हिलती थी और वे सीधे खड़े थे, हिलते डोलते नहीं थे।

मैं जल्दी से जङ्गल की ओर बढ़ा। मैंने कभी ऐसी अद्भुत सृष्टि नहीं देखी थी! वे वृक्ष मामूली वनस्पतियों में से, जिनका वर्णन वनस्पति-विज्ञान में देखा जाता है, नहीं थे। उनकी छाया में पहुँच कर हमको बड़ा आश्चर्य हुआ। बड़े बडे तनों पर खुले हुए छातों की तरह एक ही एक पत्ती या ढक्कन सिर पर फैली हुई थी। तना और पत्ती दोनों का रङ्ग मिट्टी की भाँति एक ही था। मास्टर साहब ने कहा, तुमने पृथ्वी पर कुकुरमुत्ता देखा है न? बरसात में छोटे छोटे छातों की तरह कहीं कहीं पर सफ़ेद रङ्ग के पौधे निकल आते हैं। उनकी जड़ से सिर तक सब एक सा होता है। यह जङ्गल उसी जाति की वनस्पति का है। यह कुकुरमुत्ते का जङ्गल है।

मास्टर साहब ने सच कहा। यह वनस्पति गरम और तर देशों ही में हुआ करते हैं। पर इस जाति के इतने बड़े पेड़ मैंने कभी नहीं देखे थे। इनके तने ३० से ४० फुट तक के थे और इनके छातों के व्यास भी लगभग उतने ही थे। उस जङ्गल में हज़ारों पेड़ थे। उनके छातों के नीचे उजियाला नहीं पहुँच सकता था। जङ्गल में अँधेरा छा रहा था। मालूम होता था, मानो गोल गोल छतवाले मकान खड़े हुए हैं। या यों भी कह सकते हैं कि त्रिवेणी के तीर पर प्रयागवाले पंडों के हजारों छाते पास पास गड़े हुए हैं।

उनके नीचे खड़े रहने से मुझ कुछ सरदी सी लगने लगी। इसलिए आध घंटे तक उनकी छाया में टहलने के पीछे फिर समुद्र के किनारे लौट आने से मेरे शरीर को अधिक सुख मिलने लगा। परन्तु भूगर्भ में कुकुरमुत्ते ही के पेड़ न थे। कहीं कहीं पर बहुत बड़े बड़े दूसरे पेड़ भी थे। उनकी पत्तियों का कोई रङ्ग ही न था। पृथ्वी पर जहाँ तहाँ छोटे छोटे जङ्गली पौधे उगा करते हैं। यहाँ पर वे ही इतने बड़े बड़े हो गये थे। पृथ्वी पर जिनकी ऊँचाई एक, दो या तीन फुट से ज़्यादा नहीं होती, वे ही यहाँ पर सौ सौ फुट के थे।

मैं जब वनस्पतियों को देख देख कर अचरज मान रहा था, मास्टर साहब ने कहा, ज़रा पैर के नीचे भी देखते चलो। मैंने उनके कहने से नीचे दृष्टि डाली तो देखा, अनेक प्रकार के जीवों की हड्डियाँ पड़ी हैं। यह हड्डियाँ किसी बहुत पुराने समय के जीवों की थीं। अब गल गल कर मिट्टी हो रही थीं। बहुत सी हड्डियाँ चूने की सी हो गयी थीं। पर एक एक इतनी बड़ी थी कि पृथ्वी पर कभी किसी जीव की हडडी इतनी बड़ी नहीं होती।

पृथ्वी के पुराने समय को भूतत्व-वेत्ताओं ने हिसाब लगाने के लिए कई भागों में बाँट रक्खा है। पृथ्वी का आकार आज हम लोग जिस भाँति देख रहे हैं, जन्म ही से वह ऐसा नहीं था। इसके जन्म से आज तक नित्य इस पर परिवर्त्तन होते रहे हैं। जिन जीवों की ये हड्डियां थीं वे किसी पुराने युग के निवासी थे और उनके शरीर आजकल के भूचरों से बहुत बड़े थे।

हाथियों की एक एक इतनी बड़ी हडडी पड़ी थी जिसके

देखने से जान पड़ा, आज कल के समय का पृथ्वी पर का बड़े से बड़ा मत्त गज इन प्राचीन भूगर्भी हाथियों के सामने दूध पीता बच्चा सा है। दूसरे सब जीवों की हड्डियाँ इसी भाँति बहुत बड़ी बड़ी थीं। निस्सन्देह ये जीव, जिनकी हड्डियाँ गल गल कर धूल में मिल रही थीं, किसी समय में इसी समुद्र के किनारे विचरा करते होंगे। मैंने कहा, कहीं अब भी इनमें से कोई जीव यहाँ रहता न हो!

मास्टर साहब ने कहा, "क्या यह बात कुछ असम्भव है?"

इस बात को सुन कर मैं फिर डरने लगा। मैं सावधानी से चारो ओर देखने लगा कि कहीं किसी जङ्गल या पहाड़ के पीछे से कोई विशाल दानवाकार जीव बैठा हुआ झाँकता न हो। परन्तु बालू पर किसीके पाँव के चिह्न नहीं देख पड़े।

अब मैं थक गया, और एक चट्टान के नीचे बैठ गया। बैठा बैठा समुद्र की शोभा देखने लगा। मैंने कहा, "इस समुद्र के उस पार न जाने क्या है? और क्या कहीं पर इसका अन्त भी हुआ है? आज एक अग्निबोट वा जहाज़ रहता तो कैसा अच्छा होता!"

मास्टर साहब ने उत्तर दिया, "अच्छा ऐसा ही होगा। अग्निबोट न सही, डोंगी, सोंगी, कुछ न कुछ बना ही लेवेंगे। जब यहाँ आ पहुँचे हैं तो यहाँ की सभी बातें हम देखेंगे।"

मास्टर साहब ने हंसा को एक डोंगी बनाने के लिए कहा और समुद्र के किनारे पर कई पेड़ों को पसन्द करके उन्होंने उन पर चिह्न बना दिये। हंसा उनको काट कर गिराने लगा।

मैंने कहा, भला यह भी देख लीजिए, कि यहाँ के पेड़ पानी में कहीं डूब तो नहीं जाते। मास्टर साहब ने तुरन्त एक लकड़ी को पानी में फेंक दिया। वह देखते ही देखते डूब गयी, परन्तु थोड़ी देर में फिर निकल आयी और पानी पर तैरने लगी। मास्टर साहब बोले, "अब तो तुम्हारी शंका जाती रही न ?"

दूसरे दिन, दिन बीतते बीतते हंसा ने कई पेड़ों को जोड़ कर एक बेड़ा या चौरस डोंगी बना ली। वह दस फुट लम्बी और पाँच फुट चौड़ी थी। पेड़ों के तनों पर पतली पतली डालियाँ आड़ी रख कर रस्सियों से अच्छी तरह बाँध दी गयीं। ऊपर से छोटी छोटी लकड़ियाँ बिछा दी गयीं जिससे बैठने की जगह चौरस हो गयी। सब चीज़ वस्तुओं को रख कर नाव पर हम लोगों के बैठने के लिए बहुत सी जगह बच रही। नाव समुद्र पर बहुत अच्छी तरह तैरने लगी।

दूसरे दिन हम लोग बहुत तड़के ही जग पड़े। हमने सोचा कि अब आगे हम लोग बहुत जल्दी जल्दी चल सकेंगे और शारीरिक परिश्रम भी बहुत कम होगा। दो लट्ठों को एक साथ बाँध कर उसे हम लोगों ने मस्तूल की भाँति खड़ा कर दिया और एक कम्बल टाँग कर उसका एक कामचलाऊ पाल बना लिया। रस्सी और डोरियों की हमारे पास कमी नहीं थी। इससे अपने नाव के चलाने में कुछ कठिनाई नहीं देख पड़ी।

खाने पीने की चीज़ें, कपड़े, बिछौने, यन्त्र, बन्दूक और बहुत सा मीठा पानी हमने नाव पर अच्छी तरह से धर लिया। ठीक छः बजे मास्टर साहब ने चलने की आज्ञा दी।

हंसा ने नाव की गति ठीक रखने के लिए एक पतवार भी वना ली थी। उसने नाव को खोल दिया। हवा पश्चिम-दक्षिण कोन से चलने लगी। पाल में हवा भर कर नाव हवा के सामने बड़े वेग से दौड़ने लगी। मास्टर साहव ने हिसाव लगा कर कहा, हम लोग चौवीस घंटे में नव्वे मील तै कर सकेंगे, और बहुत जल्द दूसरे पार पहुँच जावेंगे।

मैं चुपचाप बैठ कर देखता रहा। दक्षिणी किनारा धीरे धीरे आकाश की गोद में मुंह छिपाने लगा। हमारे सामने दूर तक विशाल समुद्र फैल रहा था। बड़े बड़े बादलों की परछाईं उसकी छाती पर उमड़ रही थी। चमकता हुआ नीला बिजुली का प्रकाश हमारे पीछे पानी के छींटों में से लपकने लगा। देखते देखते स्थल के सारे चिह्न हम लोगों की आँखों से ओझल हो गये। जल को छोड़ और कोई भी वस्तु हम लोगों को नहीं देख पड़ी। यदि हमारी नाव के पीछे उसकी काटी हुई फेन से भरी हुई लकीर की भाँति एक लीक न देख पड़ती तो हमको मालूम होता कि हम चुपचाप एक ही ठौर में बैठे हुए हैं, आगे को नहीं चलते।

दोपहर के समय समुद्री घास, लता और दूसरी वनस्पतियाँ पानी पर तैरती हुई देख पड़ीं। यह वनस्पतियाँ समुद्र के गर्भ में पानी की सतह से दस बारह हज़ार फुट तक नीचे उपजा करती हैं, और वायु के दबाव से कभी कभी ऊपर तक बढ़ आती हैं। यह कभी कभी इतनी घनी हो जाती हैं कि उनके सामने से जहाज़ों तक का निकलना कठिन हो जाता है। परन्तु उस समुद्र में वहाँ पर उनको एक लम्बी पाँति में लहराते देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा देख पड़ा,

माना एक बहुत बड़ा तीन चार हज़ार फुट लम्बा अजगर पानी में डुबकियाँ मार रहा है। हमारी नाव उन वनस्पतियों के किनारे किनारे जाने लगी।

संध्या हो गयी। पहिले दिन की भाँति उस दिन भी आकाश में प्रकाश बना रहा। वह प्रकाश दिन रात उसी तरह रहता था। उसकी दशा में कुछ घट बढ़ नहीं होती थी।

मैं भोजन करके मस्तूल के नीचे पड़ कर सो रहा। हंसा पतवार पकड़ कर बैठ रहा। परन्तु अब तक पतवार की कोई आवश्यकता नहीं थी। वायु सीधा एक ही गति से चल रहा था।

नाग-नक्र संग्राम

पाँच छः दिन इसी भाँति बीत गये। राह में नयी बात नहीं देख पड़ी। परन्तु मास्टर साहब चुपचाप रहनेवाले नहीं थे। वे समुद्र की गहराई नापते जाते थे। साथ ही साथ एक वंसी डाल कर मछलियाँ पकड़ पकड़ कर उनकी परीक्षा ले ले कर अपनी पुस्तक में लिखते जाते थे। समुद्र-तल के निवासियों से उनका परिचय इसी भाँति से हो रहा था। एक एक मछली ऐसी देख पड़ती थी, जिसकी उपमा पृथ्वी पर की किसी जाति की मछली से नहीं हो सकती थी। मास्टर साहब उनकी परीक्षा ले कर समझाते कि ये मछलियाँ वर्त्तमान युग की नहीं हैं। पृथ्वी पर इनकी जाति हज़ारों वर्षों से निर्वंश हो गयी है। एक दिन हंसा मास्टर साहब की आज्ञा से डोरी में एक बड़ी कुल्हाड़ी बाँध कर जल की गहराई नापने लगा। उसे डोरी में एक झटका सा मालूम पड़ा। कुल्हाड़ी को ऊपर खींच कर उसने देखा कि किसी जीव ने कुल्हाड़ी को अपने मुख से पकड़ लिया था। कुल्हाड़ी पर उस जीव के दाँतों के चिह्न स्पष्ट बठ गये थे। मैं सोचने लगा, जिस जीव के दाँतों मे ऐसी शक्ति है कि वे लोहे पर अपना चिह्न जमा सकते हैं, न जाने वह पशु कितना शक्तिमान होगा, न जाने उसका मुख कितना भयानक, कितना बड़ा होगा। मेरे मन में फिर भय का सञ्चार होने लगा। कहीं कोई पराक्रमी जल-जन्तु हम लोगों को अपने दाँतों में दवा कर हड़प न ले। डर के मारे रात को मेरी आँखों से नींद भी हट गयी।

मैं स्वप्न में पृथ्वी के आदि-युग के जीवों को देखने लगा। पर्वताकार गज, द्वीपाकार कछुए, विशाल देहवाली मछलियाँ और दूसरे अति भयावने पशु एक दूसरे के पीछे पारी पारी से मेरी आँखों के सामने से चलने लगे। सारा भूमण्डल डरावने अजगरों से भरा हुआ देख पड़ा। प्राणीतत्व के पण्डित कहा करते हैं कि दूसरे युग में पृथ्वी में सर्पाकार जीवों ही की अधिकता थी। ये जीव बहुतायत से समुद्रों ही में रहा करते थे। इनके शरीर बड़े ही विशाल थे, उनकी शक्ति भी असीम थी। आज कल के गोह, मगर वा घड़ियाल उनके सामने कोई चीज़ ही नहीं हैं। मट्टी का खिलौना देख कर कोई असली घड़ियाल का कितना अनुभव कर सकता है?

मैं स्वप्न देख कर काँपने लगा। मेरी नींद टूट गयी। मेरा कलेजा धड़धड़ाने लगा। उस समय मैं इतना चञ्चल हो रहा था कि हंसा ने मुझे पकड़ लिया। वह जागता न होता तो शायद मैं समुद्र में गिर पड़ता। मास्टर साहब ने मुझे बहुत समझाया, परन्तु स्वप्न का दृश्य मेरे मन से नहीं हटा। मैं चुपचाप समुद्र की ओर देखता रहा।

फिर एक दिनभर वीत गया। फिर संध्या हो गयी। अथवा यों कहिए कि उसका समय आ गया। वहाँ पर रात दिन तो एक ही सा था। चौबीसों घंटे वही एक सा प्रकाश बना रहता था। समय पाकर मेरी आँखें भारी हो गयीं। मुझे नींद आने लगी। मैं दो घंटे सोया होऊंगा कि एक बड़ा भारी धक्का सा खाकर मैं जग पड़ा। मालूम हुआ, हमारी नाव बड़े ज़ोर से ऊपर को चढ़ रही है। फिर देखते ही देखते कोई सौ सवा सौ फुट आगे बढ़ कर वह नीचे उतर गयी।

मास्टर साहब चिल्लाकर पूछने लगे, "क्या हुआ है ? क्या नाव किसी चट्टान से टकरा तो नहीं गयी है ?"

पर हंसा ने अँगुली उठा कर एक ओर दिखाया। उसके मुख से बोली न निकली। हम लोगों से कोई छः सौ गज़ पर काला काला सा किसी वस्तु का ढेर उछल उछल कर डूब रहा था। मैंने देख कर कहा, "यह कोई पर्वताकार स्पंज मालूम पड़ता है।"

मास्टर साहब बोले, "हाँ, और एक विशाल शरीरवाला गोह भी है।"

"और देखिए, एक घड़ियाल भी है! घड़ियाल नहीं, उसका लकड़दादा है। देखिए, वह मुंह फाड़ रहा है। मुंह में दाँतों की पाँति को देखिए, मानों पैने हाथी के दाँतों की पाँति जमी हुई है। वह डूब गया!"

"व्हेल! व्हेल! देखो, वह, वहाँ पर, एक व्हेल ही है न? उसके बड़े बड़े ५८ साफ देख पड़ते हैं। देखो, वह अपनी नाक में से साँस के साथ कितना पानी उछाल रहा है!"

विचित्र लीला हो रही थी! हम लोग बड़े अचरज से खड़े हो कर देखने लगे। समुद्री दानवों का दल देख कर हम लोग चकरा गये। मालूम होता था कि हम लोग भूतों का नाटक देख रहे हैं। उनके आकार का वर्णन असम्भव है। उनमें से छोटे से छोटा जीव हम लोगों की नाव वाव सब समेत एक ही कौर में निगल सकता था।

हंसा ने चाहा कि पतवार घुमा कर नाव की गति किसी दूसरी ओर फेर दे। परन्तु दूसरी ओर भी कुशल नहीं था। चालीस फुट लम्बा एक कछुआ, और तीस फुट का एक साँप

पानी में से अपने सिर निकाल कर बड़ी बड़ी और चमकदार आँखों से देख रहे थे।

इन जीवों के साथ युद्ध करना तो असम्भव ही था। वे जीव रेल की डांक गाड़ी से भी अधिक शीघ्रता के साथ हमारी नाव के चारों ओर चक्कर काटने लगे। धीरे धीरे वे हमारे पास आने लगे। तब मैंने अपनी बन्दूक उठा ली। परन्तु उनके मोटे चमड़ों पर गोली से क्या हो सकता था?

डर से हमारी बोली बन्द हो गयी। वे जीव और भी पास आ गये —एक ओर एक घड़ियाल.दूसरी ओर एक सर्प! बाकी सब पानी में छिप गये। मैं गोली मारना ही चाहता था, परन्तु हंसा ने मुझको रोका। घड़ियाल और साँप हमारी नाव से सौ फुट की दूरी पर चले गये और इतने वेग से एक दूसरे से भिड़ गये कि समुद्र में हल चल मच गयी। नाव से तीन सौ गज़ पर भीषण संग्राम होने लगा।

इतने में जान पड़ा कि दूसरे जानवर भी, जो पानी में छिप गये थे, लड़ रहे हैं। सूंस, गोह, व्हेल और कछुए के बीच में भी घमासान युद्ध हो रहा था। पल पल में उनमें से एक न एक का शरीर देख पड़ने लगा।

परन्तु हंसा ने कहा, "नहीं, दो ही लड़ रहे हैं।" मैंने पूछा, "तू क्या कहता है?" उसने फिर कहा, "अच्छी तरह देखिए, यहाँ पर दो ही जानवर हैं।" मास्टर साहब ने भी हंसा की बात ही को ठीक समझा? वे बराबर दूरबीन लगा कर अच्छी तरह देख रहे थे। उन्होंने कहा,यहाँ पर दो ही जीव हैं। अधिक नहीं हैं। एक की नाक सूंस के शरीर की सी मालूम पड़ती है, उसका सिर गोह का सा है, और उसके दांत घड़ियाल

के से हैं। इसीसे हमने समझा था कि यहाँ पर सूंस, गोह और घड़ियाल भी लड़ रहे हैं। इसका नाम अंगरेजी विज्ञानमें इचथी-ओसोरस (Ichthyosaurus) वा गोह-मच्छ है। पृथ्वी के आदि युग में समुद्र में रहनेवाले सब जीवों में से यह भयङ्कर था। मैंने पूछा, "और उस दूसरे का क्या नाम है?"

"प्लेसिओसारस Plesiosaurus वा उप-गोह। यह एक प्रकार का सर्प है जिसकी देह कछुए की पीठ पर की सी हड्डी से रक्षित होती है। यह दोनों जीव एक दूसरे के जानी दुश्मन हैं।"

"पुराणों में तो गज-ग्राह के युद्ध का वर्णन देखा जाता है। यहाँ तो सर्प-ग्राह का युद्ध हो रहा है। मैं समझता हूँ कि साँप ही को पौराणिकों ने भूल कर हाथी बना दिया होगा। देखिए न, उसकी पूँछ को सूँड़ समझ लेना और कछुए की सी पीठ को हाथी की पीठ समझ लेना भोले भाले पौराणिकों के लिए कुछ असम्भव नहीं जान पड़ता। कूर्मावतार, मत्स्यावतार की अवतारणा भी इसी भांति की गयी होगी?"

मास्टर साहब ने कहा, "पौराणिक लोग भोले नहीं थे। वे आज कल के बड़े बड़े वैज्ञानिकों से अधिक ज्ञानी थे। परन्तु उनकी विद्या आज कल लुप्त हो गयी है। पुराणों में पाताल और पाताल-वासी जीवों के वर्णन बहुत मिलते हैं। पर अब वर्त्तमान् युग में पौराणिक युग की घटना देखो।"

बड़ा भीषण संग्राम होने लगा। दोनों के श्वास के साथ पहाड़ों की तरह पानी उछलने लगा। उनके आक्रमणों से समुद्र के प्रशान्त जल पर बड़ी भारी भारी लहरें उठने लगीं। हमारी छोटी सी नाव पल पल में डूबने पर हो गयी। बीसियों बार वह उलट जाने से बच गयी। दोनों योधाओं की श्वासों से

सैकड़ों लहरों की धौंकनियों का सा शब्द निकलने लगा। दोनो आपस में लिपट गये। उनका शरीर एक सा देख पड़ने लगा। भय से हम लोग त्राहि नारायण, पुकारने लगे।

एक घंटा, दो घंटे, तीन घंटे, इसी लड़ाई में बीत गये। लड़ाई का वेग तनिक भी नहीं घटा। एकाएकी दोनो जीव जल में डूब गये। उनके पीछे जल के ऊपर भँवर सा घूमने लगा। कई मिनट जल के ऊपर और कुछ न देख पड़ा।

अकस्मात् सर्प का डरावना मस्तक फिर बाहर निकल आया। वह घायल हो गया था। उसके शरीर पर से कछुए का सा ढाल गिर पड़ा था। वह अपने लम्बे शरीर को बार बार जल पर फटकार फटकार कर डुवाने और निकालने लगा। केंचुए को आपने भूमि पर छटपटाते देखा होगा। छोटेसे केंचुए से इस महाविशाल सर्प की उपमा दिये विना मैं उसकी मरण-यातना का वर्णन नहीं कर सकता। दूर तक चावुक की भाँति पूंछ की फटकार से जल उछलने लगा। उसकी बौछाड़ से हमारी आँखें अंधी सी हो गयीं। परन्तु उस सर्प की यातना थोड़ी देर में दूर हो गयी। उसके शरीर की क्रिया धीरे धीरे धीमी पड़ने लगी। धीरे धीरे उसकी पूंछ से ले कर मुखाग्र तक का प्राणवायु निकल गया। सारा शरीर प्राण-हीन हो कर वड़े बड़े लट्ठों की तरह जल पर उतराने लगा।

और वह घड़ियाल, वा गोह, वा इचथियोसारस, वह कहाँ चला गया? क्या वह समुद्र के भीतर अपनी गुफा में घुस गया? हमारे प्राण लेने को वह फिर तो ऊपर नहीं निकल आवेगा?

महान जलस्तम्भ

भाग्यवश वायु बड़े वेग से चलने लगा, और हमारी नाव को भय के स्थान से जल्दी जल्दी बहा कर दूर ले गया। हंसा पतवार थाम कर बैठा था। मास्टर साहब पिछले अध्याय में वर्णित घटनाओं को देख कर चिन्तासागर में डूब रहे थे। कभी कभी उनके मुख पर फिर घबराहट सी देख पड़ती थी।

दो दिन पीछे दूर से एक बड़ा भारी शब्द सुन पड़ा। मास्टर साहब ने कहा, कहीं पर पहाड़ से लहरें टकरा रहीं हैं, उसीका शब्द हो रहा है। हंसा मस्तूल पर चढ़ कर देखने लगा, पर उसे कहीं पर टकरातीं लहरें नहीं देख पड़ीं।

तीन घंटे हो गए। शब्द धीरे धीरे और भी ज्यादः सुन पड़ने लगा। मास्टर साहब ने कहा, "हो न हो पानी किसी महान गड्ढे में गिर रहा है। हमारी नाव भी उस गड्ढे में जा रहेगी।"

मास्टर साहब भी ठीक ठीक नहीं बता सके। वे भी अनुमान ही कर रहे थे। उनकी असीम बुद्धि भी इस समय बेकाम हो गयी थी।

मैं आँखें उठा कर आकाश में और अपने चारो ओर देखने लगा। आकाश शान्त था। बादल बहुत ऊँचे तक चढ़ गये थे, और उस देश के प्रकाश में चमक रहे थे। वह अद्भुत शब्द कहाँ से आ रहा था, कुछ न मालूम हुआ। यदि वह कानों को बहिरा करनेवाला शब्द पानी के गिरने से आ रहा होता, यदि वह विशाल सागर किसी निचले महासागर में गिर रहा होता, तो वहाँ पर जल की गति बहुत तेज़ हो जाती

चाहिए थी, साथ ही साथ हमारी नाव की भी गति बहुत बढ़ जानी चाहिए थी। पर नहीं, समुद्र जिस भाँति पहले स्थिर था, उसी भाँति अब भी था। मैंने एक ख़ाली बोतल जल में डाल दिया। वह बहा नहीं, वहीं ठहर कर उतराने लगा। हमारी नाव वायु के वेग से पहले ही की भाँति आगे बढ़ती रही।

इतने में हंसा ने मस्तूल पर से पुकार कर कहा, "वह देखिए!"

हम दोनों ने अपनी दूरबीनें उठा लीं और बड़ी देर तक सावधानी से देखने लगे।

मास्टर साहब ने कहा, "हाँ, हाँ! गुम्बज़ की सी कोई वस्तु पानी की सतह पर से ऊपर को उठ रही है।"

"क्या कोई दूसरा जल-जन्तु है?"

"कुछ असम्भव नहीं है।"

"तब फिर नाव को पश्चिम की ओर से ले चलिए। जल-जन्तुओं ने हमारा बहुत कुछ आदर कर लिया है। और उनका प्रयोजन नहीं है।"

पर मास्टर साहब सदा के हठी थे। उन्होंने कहा, "नहीं, सीधा चलने दो।" उनकी आज्ञा कौन टाल सकता था? नाव उस अद्भुत जीव की ओर सीधी चलने लगी।

अनुमान से हम लोग उस जीव से कोई ३०, ३५ मील की दूरी पर थे। मैंने सोचा कि यदि उसके सांस लेने से उतना ऊंचा और उतना अधिक जल निकल रहा है, और वह इतनी दूर से देख और सुन पड़ता है, तो न जाने वह आप

कतना बड़ा होगा। वह तो सांस ही से हमारे बेड़े को डुबा कता है। मुझे तो मास्टर साहब का हठ अच्छा न लगा।

रात के आठ बजे हम लोग उससे पाँच ही छ मील पर हुँच गये। वह गुम्बज़ काला काला, पहाड़ की तरह मोटा गैर ऊँचा समुद्र के बीचो बीच देख पड़ा। पर वह एक ही गैर पर खड़ा था, न हिलता था, न डोलता था। समुद्र की हरें उसकी देह से टकरा रही थीं। पानी समुद्र की सतह पाँच सौ फुट ऊँचे तक चढ़ता और फिर मेंह की बूंदों की गाँति चारो ओर बरस कर समुद्र में गिर रहा था। बड़ी गारी वर्षा में भी मैंने इतने ज़ोर से शब्द होते नहीं सुना था। म लोग पागलों की भाँति उसी भयानक अनजान जीव के ुंह के भीतर बढ़े चले जाते थे।

मैं डर से काँपने लगा। मैंने कहा, "अब मैं और आगे ाही जाऊँगा"।

हंसा ने पूँछा, "क्या यह कोई टापू है?" मास्टर साहब ने हँस कर कहा, "नहीं, यह टापू नहीं है"। वे बड़े ज़ोर से हँसने लगे। मुझे उस समय उनका हँसना बहुत बुरा लगा। मैंने झुंझला कर पूँछा, "तो फिर यह है क्या चीज़?"

मास्टर साहब ने कहा, यह जलस्तम्भ है। इसे "गेसर" कहते हैं।

पहले तो मुझे उनके कहने का विश्वास न हुआ। पर मेरी ही हार हुई। सच मुच यह एक प्राकृतिक दृश्य को छोड़ और कुछ भी नहीं था। ईश्वर ने कैसी कैसी अद्भुत वस्तुओं से प्रकृति को सजा रक्खा है!

ज्यों ज्यों हम उसके पास पहुँचने लगे, जल का वह खम्भा त्यों त्यों चमत्कार दिखाने लगा। एक टापू के बीच में से वह जलस्तम्भ फूट कर निकल रहा था। निकलने की जगह टापू की धरती में एक बड़ा भारी गड्ढा सा देख पड़ता था। पृथ्वी के भीतर से कोई अनजान शक्ति पानी को ऊपर की ओर फेंक रही थी। ठहर ठहर कर नीचे से शब्द आ रहा था। शब्द के साथ साथ पानी भी अधिक वेग से निकलने लगा था। फ़ौवारे की तरह जलस्तम्भ की चोटी फैल रही थी और पानी के छींटे आकाश के बादलों तक पहुँच रहे थे। पानी को छोड़ धुँआ वा कोई दूसरी वस्तु नहीं देख पड़ती थी। आस पास में गरम पानी के सोतों का भी कोई चिह्न नहीं था। बिजुली के प्रकाश से स्तम्भ में अद्भुत चमक दमक भरी हुई थी। तरह तरह के चमकते हुए रङ्ग आपस में मिल कर, लपट कर, फिर अलग हो हो कर पानी के छींटों के भीतर किलोल कर रहे थे। पानी का एक एक बूंद एक एक चमकदार रंग से रँग रहा था।

मास्टर साहब ने कहा, "नाव को इस टापू के किनारे लगा दो"।

हंसा ने सावधानी से, जलस्तम्भ की बौछाड़ से थोड़ी बहुत बची हुई जगह में बेड़े को रोक दिया। मैं कूद कर किनारे के एक चट्टान पर खड़ा हो गया। मास्टर साहब भी धीरे से उतर आये। हंसा नाव ही पर बैठ कर देखने लगा।

हम लोग चट्टान पर टहलने लगे। चट्टान का पत्थर बालू, चूना और ज्वालामुखी से निकली हुई वस्तुओं से बना हुआ जान पड़ा। हमारे पैरों के नीचे धरती काँप रही थी।

मानो उसके भीतर गरम पानी भरा हुआ था, और भाप चट्टान को फोड़ कर बाहर निकल आना चाहता था। बीचो बीच में कड़ाही वा घड़े के मुख की भाँति एक गड्ढा था, और उसीमें से जलस्तम्भ फूट रहा था। उसका पानी बहुत ही गर्म था। मैंने उसमें अपना थर्मामीटर डुबोया तो पारा ३२५ डिगरी तक चढ़ गया। इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो गयी कि नीचे की अँगीठी में आग खूब अच्छी तरह धधक रही थी। मैंने मास्टर साहब से कहा, "यह बात तो आपके मन के विपरीत देख पड़ती है"। वे बोले "विपरीत तुमने कैसे समझा ?"

"नहीं, कुछ नहीं" कह कर मैं चुप रहा। कौन उन हठी के साथ माथा पचाता। परन्तु मैं मन ही मन ईश्वर को धन्य-वाद देने लगा कि अब तक हमको भूगर्भ की असीम गर्मी का दुःख नहीं उठाने पड़ा है; अब तक जल, वायु, सभी बातें अच्छी मिलती आयी हैं। परन्तु साथ ही मुझे इस बात का भी भय होने लगा कि मास्टर साहब चाहे जो कुछ समझें, किसी न किसी दिन हम लोग ऐसी जगह पहुँच जावेंगे जहाँ केन्द्रस्थ ताप की मात्रा असीम होगी, यहाँ तक कि हमारे थर्मामीटर से उसका नापना असम्भव हो जावेगा।

हम लोग फिर नाव पर जा बैठे। हंसा ने पाल चढ़ा दी। नाव फिर चलने लगी। परन्तु चलने के पहले मास्टर साहब ने जेब से अपनी पुस्तक निकाल कर उसमें अपनी परीक्षा के फल लिख लिये। उन्होंने कहा, आज तक समुद्र पर हम लोगों ने २७० लीग, अर्थात् ८१० मील, तै किये हैं।

प्रलय-पयोधि

दूसरे दिन गेसर का कहीं पता ही न था। पर हवा तेज़ हो गयी और नाव के बड़े भारी वेग से बहा ले चली। गेसर का शब्द भी दूरी में छिप गया।

ऋतु बदली हुई जान पड़ी। वायु में पानी का भाप भर रहा था। निमकीन पानी के भाप बन जाने से उसमें बिजुली भरने लगी थी। बादल नीचे लटकने लग गये। उनका रङ्ग गहरा देख पड़ने लगा। मोटे पर्दों की भाँति उनके बीच में आने जाने से वैद्युतिक प्रकाश भी धुँधला हो गया।

लाग कहते हैं कि आँधी, पानी, वा और किसी भारी प्राकृतिक घटना के पहले पशु पक्षियों को उसका ज्ञान पहले ही से हो जाता है। मुझे भी किसी भारी प्राकृतिक परिवर्त्तन का अनुभव होने लग गया। घने बादल उमड़ उमड़ कर सिर के ऊपर लटकने लगे। हवा भारी हो गयी। समुद्र शान्त हो गया। मैंने समझा, कोई तूफ़ान आने वाला है।

दूर के बादल रूई के गट्ठों से मालूम पड़ने लगे। मानो गट्ठों पर गट्ठे लाद दिये गये थे; नहीं—वे उलटे सीधे, तितर बितर, वे हिसाब योंही धर दिये गये थे। परन्तु इस बेहिसाबी, इस विश्रृङ्खला में भी एक सुन्दरता सी थी। वे गट्ठे धीरे धीरे हिलने लगे, उनकी संख्याएं घटने लगीं, रूई उड़ उड़ कर सबों का एक बड़ा भारी ढेर बन गया। इतने भारी ढेर का बोझा कौन सँभाल सकता है? वह आकाश में नहीं चढ़ सका, धीरे धीरे, बोझ के बढ़ते रहने से, नीचे गिरने लगा। उस पर का रङ्ग गहरा होने लगा। उसका ऊबड़-खाबड़-पन

मिट गया। घने बादल की सतह बराबर हो गयी। बीच बीच में प्रकाश की एक आध शिखा उस काले काले बादल पर आ पड़ती. अँधेरे में उस हलके उजियाले के मिलने की जगह पर पल भर के लिए भूरा रङ्ग आ जाता. और तुरन्त देखते ही देखते फिर स्याही में मिल जाता।

आकाश-मण्डल में बिजुली भर रही थी। मेरे सारे शरीर में बिजुली भरने लगी। मेरे सिर के बाल खड़े होने लग गये! मानो मैं किसी वैद्युतिक यन्त्र पर बैठा दिया गया। मुझे आप ही आप मालूम हुआ कि मेरे साथी यदि मुझे इस समय छुएं तो मेरे शरीर से निकल कर बिजुली उनके शरीर को बड़ा भारी धक्का लगा देगी।

दस बजते बजते प्रलय के चिह्न स्पष्ट देख पड़े। वायु जब रुक जाती है तो अपना वेग बढ़ाने ही के लिए रुकती है। बादल और भी घने हो गये हैं। मानो उनमें आँधी और पानी भरे हुए हैं. मानो अब उनके छोड़ दिये जाने भर की देर है।

मास्टर साहब चुपचाप बैठे हैं। उनके मुखमंडल को देख कर कलेजा दहल जाता है। चिन्ता से उनका मुख घने बादलों से भी गम्भीर हो रहा है। रह रह कर उनका सिर कुछ कुछ काँप उठता है।

मैंने कहा, "बड़ा भारी आँधी पानी आ रहा है। मस्तूल को उतार देना चाहिए।"

मास्टर साहब ने कहा, "नहीं, नहीं। हवा को जहाँ चाहे हमको उड़ा ले जाने दो। कहीं किनारे का पता ही नहीं चलता। मैं कोई चट्टान सट्टान ढूंढ़ रहा हूं।"

मास्टर साहब के बोलने भर की देर थी, कि हवा ज़ोर से चलने लगी। और भी अँधेरा छा गया। पानी भी मूसलधार बरसने लगा।

नाव पानी पर उछलने लगी। मास्टर साहब गिर पड़े। मैं उनके पास सिकुड़ कर बैठ गया। मास्टर साहब एक रस्सी पकड़ कर बड़े आग्रह से प्रकृति की भीषण लीला देखने लगे।

हंसा कठपुतली की तरह चुपचाप बैठा था। उसके बड़े बड़े केश उड़ उड़ कर उसके मुख पर पड़ रहे थे, और एक डरावना सा चित्र खींच रहे थे; क्योंकि एक एक केश के अगले भाग पर जुगनू की सी ज्योति चमक रही थी। अगियाबेताल का चित्र खींचनेवाले के लिए हंसा अच्छा नमूना बन गया था।

मस्तूल अभी तक दृढ़ता से खड़ा था। पाल हवा से खूब तन गया था, मानों हवा उसे फाड़कर निकल कर भागना ही चाहती थी। नाव इतनी जल्दी दौड़ रही थी कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता।

मैंने कहा, "पाल उतार देना चाहिए"।

मास्टर साहब ने कहा, "नहीं, रहने दो!"

उस समय हमारे सामने, डेढ़ दो कोस आगे, पानी बहुत ही ज़ोर से बरस रहा था। "मूसलधार" से भी बढ़ कर मोटी धाराएं आकाश से गिर रही थीं। "मूसलधार" के बदले "ओखलीधार" कहें तो सम्भव है कि उपमा ठीक हो। परन्तु भाग्यवश हमारे वहाँ तक पहुँचते पहुँचते बादल

फटने लगे, समुद्र खौलने लगा और किसी महान रासायनिक शक्ति से चालित होकर वैद्युतिक अग्नि की शिखाएँ लपकने लगीं। बिजुली की लपक से आँखें चौंधियाने लगीं और उसकी कड़क से कान के पर्दे फटने लगे। वायुमंडल प्रकाश से लपकने लगा। हमारे लोहे के फावड़े, कुल्हाड़ी और हथियारों पर भी शिखाएँ लपकने लगीं। समुद्र की लहरें भी ज्वाला-मयी हो गयीं। बड़ी बड़ी ज्वालामयी लहरों के भीतर छोटी छोटी ज्वालाएँ लपकने लगीं। बड़ी बड़ी शिखाएँ आपस में लिपट लिपट कर समुद्र की छाती पर घुड़दौड़ मचाने लगीं। नाव का मस्तूल भयानक प्रलय के झोंके में सरकंडे की तरह काँपने लगा। मेरी आँखें अंधी, मेरे कान बहरे हो गये। मैं मस्तूल की जड़ से लिपट कर अचेत हो गया। मुझे कुछ भी सुध बुध नहीं रही।

जब फिर मुझे चेत हुआ, उस समय रात हो गयी थी। परन्तु तब भी प्रकृति की उग्रचंडा मूर्त्ति शान्त नहीं हुई थी। तब भी बिजुली का शब्द पहले की ही भाँति हो रहा था। मेरे कानों से रुधिर निकल रहा था। हम लोग आपस में बोल तक नहीं सकते थे। नीली और श्वेत टेढ़ी मेढ़ी अग्नि की शिखाएँ सब ओर दौड़ रही थीं। आकाश अग्नि का गोला बन रहा था। मैंने सोचा कि हमारे सिर पर वह पथरीला चट्टान जो पृथ्वी का विशाल बोझ थाँमे हुए था, और जो हमारे ऊपर महराबदार,गोल छत की तरह खड़ा हुआ था, कहीं वह न फट जाय! असंख्य अग्निमयी शिखाएँ जीभ लप-लपाकर दौड़ रही थीं। बहुतेरी आपस में लिपटकर गेंद की नाईं गोल हो जाती थीं और लुढ़क लुढ़ककर भयङ्कर लीला

दिखा रही थीं। पृथ्वी भर के सारे बारूद खाने—बारूद के सारे भंडार—यदि एक ठौर में इकट्ठे हो जाते और उस विशाल मेगज़ीन में आग लग जाती तो भी शायद ही वह दृश्य देखने में आता जो हम लोग देख रहे थे।

दूसरे दिन भी उस लीला की समाप्ति नहीं हुई। हम लोग थकावट से और शारीरिक क्लेश से अधमरे हो गये थे। हम लोग मुँह फाड़ते थे, पर मुख से शब्द एक भी नहीं निकल सकते थे। मास्टर साहब ने बड़ी कठिनाई से, बड़ी भारी चेष्टा से कुछ कहा, जिसका अर्थ था—"हम लोग मरें"। मैंने मस्तूल उतार लेने के लिए फिर हाथ से इशारा किया। अब मास्टर साहब ने आज्ञा दे दी।

मास्टर साहब ने अपना सिर उठाया ही था कि आग का एक गोला समुद्र पर आ गिरा, और लहरों ने उसे उठाकर हमारी नाव पर धर दिया। मस्तूल और पाल उसके छूते ही हवा में उड़ गये। बड़ी दूर ऊपर जाकर वे दोनों मिल कर किसी पर फैलाए हुए पक्षों की तरह देख पड़ने लगे। इसे देख हमारे शरीर का रुधिर सूख गया। अग्नि का गोला जो आधा श्वेत और आसमानी नीले रङ्ग का था, और जो तोप के दस इंची गोले के बराबर था, धीरे धीरे नाव पर लुढ़कने लगा। वह कभी यहाँ आता, कभी वहाँ जाता, कभी बड़े वेग से चक्कर काटकर घूमने लगता, कभी मस्तूल की ठूंठ पर चढ़ जाता, कभी हमारी चीज़ वस्तु पर जा डटता। यह लो, वह हमारे बारूद के बकस पर चढ़ गया। अब हम सबों की समाप्ति आ गयी! अभी बारूद में आग लग जावेगी, अभी नाव साव, हम लोग सबके सब, भक से उड़कर हवा में

मिल जावेंगे !—पर, नहीं.—गोला हट गया, वहाँ से हंसा के पास चला, हंसा टकटकी बाँधकर उसे देखने लगा। तब वह मास्टर साहब के सिर के पास चला। मास्टर साहब उससे बचने के लिए नीचे सिर गाड़ कर छिप रहे। तब मेरी पारी आयी। वह गोला काँपता हुआ मेरे पैरों के पास लुढ़क आया. और धीरे धीरे चक्कर काटने लगा। मैंने अपने पैर हटा लेने चाहे, पर न हटा सका।

वायु में दम घोटनेवाली नैट्रोजन से भरी हुई दुर्गन्ध भर गयी और गले में हो कर फेफड़े में भर गयी। दर्द से हम लोग व्याकुल हो गये।

मैं अपने पैर क्यों नहीं हटा सका? क्या वह लकड़ी से जुड़ गया था? अहा! इसका कारण मुझे मालूम हो गया: गोले के गिरते ही नाव पर के सब लोहे की वस्तुओं में चुम्बक की सी आकर्षणी शक्ति भर गयी थी। फावड़े, कुल्हाड़ी, यन्त्र, बन्दूक, सब आपस में टक्कर खा खा कर, उछल उछल कर, अद्भुत खेल खेल रहे थे, उन सबों से ठनाठन शब्द हो रहा था। मेरे जूते के तले की कीलें नाव में गड़ी हुई लोहे की एक एक चादर से जुड़ गयी थीं, और इसीसे मैं अपने पैर नहीं हटा सकता था।

निदान बड़े परिश्रम से मैंने जूतों में से अपने पैरों को खींच कर बाहर निकाल लिये। ठीक उसी समय वह अग्नि का गोला जूतों पर चढ़ कर नाचने लगा। और पल भर की देर होती तो मेरे पैर जल कर भस्म हो जाते।

अब कुछ और ही दृश्य देखने में आया। अग्नि की शिखाएँ अकस्मात् और भी अधिक तीव्रता के साथ चमकने

लगीं। वह गोला फट गया और उसमें से हजारों शिखाएँ निकल कर चारों ओर फैल गयीं। अकस्मात् पानी की बाढ़ आ जाने से जिस भाँति गाँव नगर सब डूब जाते हैं, उसी भाँति हम लोग ज्वाला की बाढ़ में डूब गये।

तब सब उजियाला बुझ गया। मैंने देखा कि मास्टर साहब हाथ पैर फैलाकर नाव पर औंधे पड़े हैं, और, हंसा पतवार पकड़ कर तब भी बैठा हुआ है, परन्तु वैद्युतिक तरंगों में उसका शरीर डूब जाने से वह मुँह से आग की गोलियाँ उगल रहा है।

पर हम कहाँ जा रहे थे? कहाँ?

मेरा शरीर बहुत दुर्बल हो गया था। मैं कुछ अचेत सा होकर पड़ रहा। दूसरे दिन जब मुझे फिर चेतना हुई, मैंने देखा कि प्रलय तब तक वर्त्तमान था। बिजुली की शिखाएँ असंख्य सर्पों की तरह चारों ओर लपक लपक कर दौड़ रही थीं। हमारी नाव तीर की तरह दौड़ रही थी। हम लोग स्याम, चीन आदि देशों के नीचे होकर फिर समुद्र के नीचे ही नीचे चल रहे थे। एशिया का महा-स्थलभाग हमसे छूट गया था।

तब फिर एक महा भयङ्कर शब्द हुआ। निश्चय हमारे सिर पर पृथ्वी का गोला टूटकर गया होगा। निश्चय पहाड़ टूट कर हमारे ऊपर आ रहे होंगे। और तब, अरे-रे-रे-रे

और नीचे को—नहीं, नहीं, ऊपर को

हम लोग तीनों मनुष्य अचेत होकर गिर पड़े। कब तक हमारी ऐसी दशा रही, हम ठीक ठीक नहीं कह सकते। परन्तु जब फिर हम लोगों को चेत हुआ, जब हम लोग फिर उठ बैठे, प्रलय की अग्नि शान्त हो गयी थी, पहले से बहुत अंधेरा हो गया था, और नाव पर हमने बड़ा गड़बड़ पाया। सब चीज़ें उलट पलट हो गयी थीं। नाव की दो बल्लियाँ खुल कर अलग बह रही थीं, दो एक चीज़ों का भी पता नहीं चलता था।

पर समुद्र का कहीं नाम भी नहीं था। अब तो मालूम हुआ कि नाव किसी अँधेरी गुफा के भीतर बड़े वेग से दौड़ रही थी। परन्तु मास्टर साहब बड़े प्रसन्न देख पड़े। उन्होंने पूछा, "रञ्जन! क्या देखते हो?" सच पूछिए तो मैं भोजन की थैली कहाँ गयी है, यही देख रहा था। थैली का पता नहीं चलता था। मास्टर साहब ने बड़ी बड़ी वैज्ञानिक प्रक्रियाओं से ऐसे ऐसे भोजन बना कर रख लिए थे कि इतने दिन के बासी हो जाने पर भी वे बिगड़े नहीं थे। मुझे भूख लग रही थी। मैंने थैली को ढूंढा तो उसका पता न चला। पर मास्टर साहब को इस बात की कुछ परवा नहीं थी। उन्होंने मुझसे फिर प्रश्न किया, "क्या देखते हो? बताओ तो, अब हम किधर जा रहे हैं?" उनकी बातें सुन कर मुझे गुस्सा चढ़ आया। पर मैं डर से कुछ बोल न सका। तब मास्टर साहब फिर बोले, "रञ्जन! देखो, हम लोग अब और

भी नीचे चले जा रहे हैं। अब पृथ्वी-गर्भ के मध्यभाग में हम लोग बहुत शीघ्र पहुँच जावेंगे।

मास्टर साहब की बातें सुन कर मेरा ध्यान भी नाव की गति पर गया। नाव सचमुच नीचे को उतर रहा था। अँधेरा हो गया था। इस लिए हंसा ने फिर लालटेन को जला लिया। उसके प्रकाश से हमने देखा कि हम लोग फिर किसी पहाड़ी गुफा के भीतर हो कर जा रहे थे। समुद्र का पानी उसके भीतर बह रहा था। वही पानी हमारे नाव को भी अपने साथ किसी अतल देश को बहाए लिए जाता था।

पर मुझे भूख बहुत लगी थी। मैंने कहा, "हम लोग चाहे जहाँ क्यों न जावें, अब यह तो बताइए, हम लोग खावेंगे क्या? भोजन की सामग्री तो सब की सब कहीं बह गयी है"।

"ऐं, भोजन की थैली बह गयी! नहीं, नहीं! हंसा, तनिक अच्छी तरह फिर तो देखो"।

हंसा बेचारे ने फिर देखा। थैली समुद्रगर्भ में कहीं जा पड़ी होगी। उसका कहीं पता न चला। बहुत ढूँढ़ने पर, एक कटोरदान में थोड़ा सा हलुवा—वैज्ञानिक हलुवा, जो सूख कर पत्थर हो गया था, परन्तु लालटेन की अग्नि पर पानी गर्म करके उसमें धर देने से वह फिर फूल कर ताज़ा और सुस्वाद हो जाता था—और दो छोटे छोटे स्वदेशी अर्थात् घर के बने हुए विस्कुट मिल गये। इतनी थोड़ी सी सामग्री से तीन मनुष्यों के प्राण कब तक बच सकते थे? मास्टर साहब अब वास्तविक बड़े सोच में पड़ गये।

मैंने कहा, "अब तो भूखों मरना पड़ेगा। बताइए, अब क्या करें?"

मास्टर साहब ने कहा, "इसीको थोड़ा थोड़ा खा कर दो दिन काटो। आगे भगवान मालिक है।"

"पर हम तो नीचे चले जा रहे हैं। अब घर लौटने का उपाय सोचिए। नहीं तो क्या कोई यहाँ हमारे लिए खेत जोत रहा है?"

"अभी से तुमको घर लौटने की पड़ गयी? अभी तो असली जगह पर हम लोग पहुँचे ही नहीं हैं!"

"पर खायंगे क्या? पत्थर तो खाया नहीं जाता?"

मास्टर साहब मेरी बातों को सुन कर सोच में डूब गये। वे शायद पत्थर को वैज्ञानिक रीति से भोज्य पदार्थ में बदलने की रीति सोच रहे होंगे। पर तनिक से हलुवे और विस्कुट से मेरी क्षुधा शान्त न हुई। मुझे घर की बातें याद पड़ने लगीं। नर्म्मदा का मुखड़ा इतने दिनों पीछे मेरे सामने खड़ा हो कर मुसक्याने लगा। मास्टर साहब के मित्रों और मेरे कुटुम्बों की इच्छा थी कि नर्म्मदा का विवाह मेरे साथ होता। मास्टर साहब ने भी इस बात को मान ली थी। अब तक घर रहते तो नर्म्मदा मेरी हो जाती। हम लोग सुख से रहते। परन्तु, हरे! हरे! मास्टर साहब के पागलपन ने मुझको विवाह-वासर से घसीट कर यमलोक की राह में डाल दिया था। अब तक मैंने अनेक दुख सह लिये थे। मैंने सोचा था कि कुछ दिनों पीछे घर लौट कर मेरी अभिलाषा भी पूरी हो जावेगी। परन्तु अब तो भूखों मरने की पारी आ गयी। हे भगवान! हमारी इस बुड्ढे पागल के हाथों से रक्षा करो। प्यारी नर्मदा बचपन से मेरे ही साथ

रही है। अब भी वह मेरी राह देख रही होगी। हे कृपासिन्धु! क्या तुम मुझे फिर उसके पास पहुँचा दोगे?

इतने ही में हमारी नाव बड़े झटके से नीचे को गिरी। साथ ही हम लोगों को एक ऐसा धक्का लगा कि हम लोग तीनों फिर औंधे मुँह नाव पर गिर पड़े। एक चट्टान से ठोकर खा कर मैं नाव से हट कर पानी में जा गिरा। परन्तु एक रस्सी मेरे हाथ में लग गयी। उसे पकड़ कर मैं लटकने लगा। हंसा ने मेरी यह दशा देख कर बड़ी कठिनाई से मुझे फिर ऊपर खींच लिया। मैं नाव पर फिर चढ़ कर हाँफ ही रहा था कि नीचे से फिर एक धक्का आया, और इस बार हम लोग ऊपर चढ़ने लगे। मैंने घबरा कर पूछा, "हम लोग नीचे उतर रहे हैं या ऊपर चढ़ रहे हैं?" मास्टर साहब ने कहा, "तुम्हें तो ऊपर ही की सूझ रही है न? अभी अपने स्थान पर तो पहुँचे ही नहीं, तुम ऊपर ऊपर चिल्लाने लगे। अभी घर लौटने का नाम मत लेना।"

मैंने कुछ झुँझला कर कहा, "आप चाहे जो कुछ कहिए, पर तनिक देखिए तो सही, नाव ऊपर चढ़ रही है और बड़े वेग से चढ़ रही है। वायु का अन्तर इतना अधिक मालूम होता है जैसा कि बेलून पर चढ़नेवालों ने वर्णन किया है।"

लालटेन बुझ गयी थी। हंसा ने उसे फिर जलाया। मास्टर साहब ने उजियाले में देखभाल कर मेरी बातों को मान लिया। परन्तु उनका मुख उदास हो गया। वे कहने लगे कि वैद्युतिक प्रलय ने हमको तरक्षु-हैहय के बतलाए हुए मार्ग से हटा दिया है। इतना परिश्रम सब व्यर्थ होना चाहता है।"

मुझे उनकी बातें सुन कर मन ही मन बड़ी हँसी आने लगी। मैंने कहा, "जो हो गयी' उसकी सोच न कीजिए। अब आगे की सुध लीजिए. देखिए, हम लोग ऊपर ही को चढ़ रहे हैं। हमारे सुरङ्ग का व्यास चौबीस फुट से अधिक न होगा।"

मास्टर साहब ने कहा, "नाव के चढ़ने की गति बड़ी तीव्र है। मैं समझता हूं कि हम लोग एक सेकंड में १४ फुट, वा घंटे में दस मील चढ़ रहे हैं। मालूम होता है, हम लोग किसी ज्वालामुखी के मुख में आ पड़े हैं। इस ज्वालामुखी ने वमन करना आरम्भ किया है। हम लोग समुद्र के जल के साथ उसके वमन के ऊपर आ पड़े हैं।"

यह बात सुन कर मुझे फिर भय होने लगा। अभी अग्नि और टिघलते हुए पत्थर और धातु का उद्गार होने लगेगा, और साथ साथ हम लोगों का काम भी तमाम हो जावेगा। परन्तु मास्टर साहब ने कहा, इस बात की सम्भावना अभी कम है। पहले पानी निकल जावेगा, तब दूसरी आग्नेय सामग्रियों की पारी आवेगी। हो न हो हम लोग जल पर बैठे हैं, जल ही के साथ साथ पहले पृथ्वी पर निकल जावेंगे।

मैंने कहा, "और जो कहीं सुरङ्ग का ऊपर की ओर मुख बन्द हो, खुला न हो तब? तब तो हमारे सिर ही सबसे पहले पत्थर से टकरा कर चकनाचूर हो जावेंगे। सो, तरह से मरना निश्चय है। ऊपर से पहाड़ का टक्कर, और नीचे से

मास्टर साहब चुप हो रहे। कुछ न बोल सके। मुझे फिर भूख सताने लगी। मैंने हंसा से कहा, "हंसा ! ढूंढ ढाँढ कर कुछ और निकालो, मरना तो है ही। पर जब तक जीना बदा है, भूख तो नहीं सहा जाता।" हंसा ने कहीं से एक डिब्बा और निकाला। उसमें जमा हुआ दूध मिल गया। हंसा ने उसे गर्म पानी में घोल कर ताजा औटाया हुआ दूध बना लिया। फिर उसमें चाय मिलाकर उसने हम लोगों को दो दो प्याले भर कर बहुत उत्तम चाय पीने को दिये। चाय पीने के साथ साथ हम लोगों की मुरझाती हुई आशा फिर जगने लगी। मैं चुपचाप बैठकर मन ही मन ईश्वर से सहायता माँगने लगा। मास्टर साहब मशाल हाथ में लेकर सुरंग की दशा जाँचने में लग गये। हंसा अपनी ठौर पर मूर्त्तिवत् बैठा रहा।

पर अब हम लोगों को गर्मी मालूम होने लगी। मैंने नाव के नीचे जल में अपना हाथ डुबाया परन्तु तुरन्त हाथ खींच लेना पड़ा। हमारे नीचे का पानी बहुत गर्म हो गया था। मैंने मास्टर साहब से यह बात कह कर पूछा, "यह सुरङ्ग है या जलती हुई अँगीठी ?"

मास्टर साहब ने झिड़ककर कहा, "तुम पागल हो गये हो ? सुरंग कहीं अँगीठी बन सकती है ?"

मैंने दिवाल को छूकर देखा। सचमुच वह भी बहुत उष्ण हो गया था। दिवाल को छूते ही मेरी अंगुलियों में फफोले पड़ गये। मैंने मास्टर साहब को अपनी अंगुलियाँ दिखायीं। वह क्रोध से गुर्राने लगे। परन्तु मुख से कुछ बोल न सके।

मैंने कम्पास. उठाकर देखा। परन्तु कम्पास बेकाम हो गया था। उसमें दिशा बतलाने की शक्ति और नहीं थी। सूई अपने केन्द्र के चारों ओर दौड़ रही थी, मानों उसने कुछ नशा पी लिया था।

इतने में नीचे से बड़ा भयङ्कर शब्द सुन पड़ा। सुरङ्ग की गर्मी के मारे मैं पागल हो रहा था। इस भयङ्कर धड़ाके को सुन कर मैं नाव पर गिर पड़ा। साथ ही नाव इतने वेग से ऊपर चढ़ गयी कि मेरे सिर में चक्कर आ गया और मैं कुछ अचेत सा हो गया।